श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

समयसार प्रवचन

चतुर्दशतम भाग

प्रवक्ता :—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी

"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज

सम्पादक :—

महावीरप्रसाद जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ

प्रकाशक —

खेमचन्द जैन, सर्राफ

मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला,

१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ

(उ० प्र०)

प्रथम संस्करण
१०००

१९६७

मूल्य
१)५०

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक

(१) श्रीमान् लाला महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ
(२) श्रीमती फूलमाला जी, धर्मपत्नी श्री लाला महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ।

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तक महानुभावों की नामावली :—

(१) श्री भवरीलाल जी जैन पाण्ड्या, झूमरीतिलैया
(२) ,, ला० कृष्णचन्द जी जैन रईस, देहरादून
(३) ,, सेठ जगन्नाथजी जैन पाण्ड्या, झूमरीतिलैया
(४) ,, श्रीमती सोवती देवी जी जैन, गिरिडीह
(५) ,, ला० मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन, मुजफ्फरनगर
(६) ,, ला० प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन, प्रेमपुरी, मेरठ
(७) ,, ला० सलेखचन्द लालचन्द जी जैन, मुजफ्फरनगर
(८) ,, ला० दीपचन्द जी जैन रईस, देहरादून
(९) ,, ला० बारूमल प्रेमचन्द जी जैन, मसूरी
(१०) ,, ला० बाबूराम मुरारीलाल जी जैन, ज्वालापुर
(११) ,, ला० केवलराम उग्रसैन जी जैन, जगाधरी
(१२) ,, सेठ गैंदामल दगड्डू शाह जी जैन, सनावद
(१३) ,, ला० मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मंडी, मुजफ्फरनगर
(१४) ,, श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन, देहरादून
(१५) ,, श्रीमान् ला० जयकुमार वीरसैन जी जैन, सदर मेरठ
(१६) ,, मन्त्री जैन समाज, खण्डवा
(१७) ,, ला० बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन, तिस्सा
(१८) ,, बा० विशालचन्द जी जैन, आ० मजि०, सहारनपुर
(१९) ,, बा० हरीचन्द जी ज्योतिप्रसाद जी जैन ओवरसियर, इटावा
(२०) श्रीमती प्रेम देवी शाह सुपुत्री बा० फतेलाल जी जैन संघी, जयपुर
(२१) श्रीमती धर्मपत्नी सेठ कन्हैयालाल जी जैन, जियागंज
(२२) ,, मन्त्राणी, जैन महिला समाज, गया
(२३) श्रीमान् सेठ सागरमल जी पाण्ड्या, गिरिडीह
(२४) ,, बा० गिरनारीलाल चिरंजीलाल जी, गिरिडीह

(२५) श्री बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी, गिरिडीह
(२६) ,, सेठ फूलचन्द वैजनाथ जी जैन, नई मण्डी, मुजफ्फरनगर
(२७) ,, ला० सुखवीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ, बड़ौत
(२८) श्रीमती धनवती देवी ध० प० स्व० ज्ञानचन्द जी जैन, इटावा
(२९) श्री दीपचंद जी जैन ए० इंजीनियर, कानपुर
(३०) श्री गोकुलचद हरकचंद जी गोधा लालगोला
(३१) दि० जैनसमाज नाई मंडी, आगरा
(३२) दि० जैनसमाज जैनमन्दिर नमकमंडी, आगरा
(३३) श्रीमती शैलकुमारी ध० प० बा० इन्द्रजीत जी वकील, कानपुर
* (३४) ,, सेठ गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, गया
* (३५) ,, बा० जीतमल शान्तिकुमार जी छावडा, झूमरीतिलैया
* (३६) ,, सेठ शीतलप्रसाद जी जैन, सदर मेरठ
* (३७) ,, सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बड़जात्या, जयपुर
* (३८) ,, बा० दयाराम जी जैन आर. एस. डी. ओ. सदर मेरठ
* (३९) ,, ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन, सदर मेरठ
× (४०) ,, ला० जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन, सहारनपुर
× (४१) ,, ला० नेमिचन्द जी जैन, रुड़की प्रेस, रुड़की
× (४२) ,, ला० जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन, शिमला
× (४३) ,, ला० बनवारीलाल निरजनलाल जी जैन, शिमला

नोटः—जिन नामोंके पहले * ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोकी स्वीकृत सदस्यता के कुछ रुपये आ गये हैं बाकी आने हैं तथा जिनके नामके पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनके रुपये अभी नहीं आये, आने हैं।

आत्म-कीर्तन

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

[१]

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान ॥

[२]

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥

[३]

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुःख की खान ।
निज [illegible] निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥

[४]

जि[illegible] ईश्वर ब्रह्मा रा[illegible] विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
रा[illegible] [illegible]गि पहुँचूं निजधाम [illegible]कुलताका फि[illegible] क्या काम ॥

[५]

हो[illegible] जगत परिणाम मैं जगका करता क्या काम ।
दूर [illegible] परकृत परिणाम 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ॥

ॐ अ[illegible] धर्म ॐ

समयसार प्रवचन

चतुर्दशतम भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु०

मनोहरजी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज

सृष्टिसाधन जिज्ञासा—

इस सर्व विशुद्ध ज्ञान अधिकार मे आत्मा को अकर्ता और अभोक्ता कहा गया है। और अकर्ता अभोक्ता मात्र ही नहीं किन्तु सर्व प्रकार के पर सम्बन्धो से रहित बताया है। ऐसी स्थिति मे जब इस ससार परव दृष्टि डालते है तो यह प्रश्न होना प्राकृतिक है कि जब आत्मा सर्व विशुद्ध है तो फिर यह संसार वन कैसे गया। इसका समाधान भी पहले दिया जा चुका है कि परस्पर निमित्त नैमित्तिक भाव के सम्बन्ध से अज्ञान के कारण यह संसारी बना है और फिर इसका प्रतिबोध किया और यह सिद्ध किया गया कि किसी द्रव्य का किसी अन्य द्रव्य से चूंकि कोई सम्बन्ध नहीं है अत. आत्मा अकर्ता और अभोक्ता ही है, परका अकर्ता और परका अभोक्ता है, जैसे कि इसके बीच मे निमित्त नैमित्तिक भाववश ससार परिणमन बताया था, उसी को दृष्टि मे लेकर अब जिज्ञासु यह पूछ रहा है तो क्या इस आत्मा के रागादिकका भी कोई परकर्ता नहीं है? यदि न हो तो फिर रागादिक स्वभाव बन जायेगे। अत कुछ कर्ता मानना तो चाहिये। इस प्रसग की जिज्ञासा का समाधान करने के लिए आचार्य देव कहते है—

मिच्छत्तं जइ पयडी मिच्छाइट्ठी करेइ अप्पाणं।
तम्हा अचेदणा दे पयडी णणु कारगो पत्तो ॥ ३२८ ॥

समझ क सावधान–

तुम किस पर को कर्ता मानते हो ? कोई चेतन प्रभु या अन्य जीव तो कर्ता है नहीं। इसका वर्णन तो पहिले कर ही दिया गयाहै तो क्या मिथ्यात्व आदिक प्रकृतिया क्या जीव के विभाव को करनेवाली है ? जैसे कहेगे आप कि मिथ्यात्व नामक प्रकृति जीव को मिथ्यादृष्टि वना देती है, तो इसका अर्थ यह है कि जीवको करनेवाला अचेतन हो गया। किसी अन्य पदार्थ मे तो यह सामर्थ्य नहीं है कि किसी जीव के परिणमन को कर दे। पर यह अचेतन कर्म प्रकृति मे सामर्थ्य वन गई कि वह जीव के परिणमन को करदे क्या ऐसा है ? इस प्रकरण को वडी सावधानी से सुनकर समझ सकते है। वस्तु के या इस आत्मतत्व के सवध मे सर्व प्रकार का परिज्ञान तव होगा जव वस्तु की स्वतत्रता भी पूरी समझमे रहे और निमित्त नैमित्तिक भाव भी पूर्ण समझमे रहे।

निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध के अवगम का आधा–

निमित्त नैमित्तिक भाव तव सिद्ध होता है जव यह देखा जा रहा हो कि पदार्थ वर्तमान मे इस प्रकार की योग्यता वाला है। इतने प्रकार के परिणमन होने की योग्यता है उनमे से जैसा सहज निमित्त सुयोग होता है वैसा यह परिणम जाता है। परिणमता है अपनी ही परिणति से। यह जव देखने मे आएगा तव निमित्त नैमित्तिक भाव की सिद्धि होती है यद्यपि एक कल्पना मे एक दृष्टि मे ऐसा भी ध्यान आता है कि कलके दिन पदार्थ का जो कुछ होना होगा चाहे हम नहीं जानते मगर वही तो होगा ना ? अथवा अवधिज्ञानी जीव भविष्य की वात को देखकर आज वता देते हैं कि अमुक दिन यह होगा। वही होता है ना। यद्यपि एक दृष्टि मे यह भी वात विदित होती है कि जव जो होना है तव उसमे वही होता है। और वैसा ही निमित्त सुयोग होना है यह भी एक दृष्टि मे है, किंतु सर्वथा इस ही को तथ्य माना जाय और दूसरी ओर आखें वन्द करली जाय तो यह समझे कि उसमे अभी परिणमन पद्धित का पूर्ण परिज्ञान नहीं किया गया है।

मे उसे रोना वन्द करना पडा। अव आगए उसके पिताजी। तो पिताजी को देखकर फिर उसने जोर-जोर से रोना शुरू किया। तो क्या उसके पिताजी ने उसे रुला दिया ? नहीं। उस रोने का प्रभाव उस बच्चे का ही है। पिता का दिखना वहा आश्रयमात्र है।

प्रभाव, प्रभावक व निमित्त का विश्लेषण–

भैया ! इस प्रकार प्रत्येक उपादान विभावरूप प्रभाव वनाता है तो किसी पर द्रव्य का निमित्त पाकर ही वना पाता है। वह प्रभाव निमित्तभूत वस्तु का नहीं है किन्तु वह उपादान का ही है। इस कारण यह जीव अपने सम्यक्त्व परिणमन से च्युत होकर जो मिथ्यात्वरूप परिणमन करता है उस मिथ्यात्व परिणमन मे प्रभाव उस ही परिणमने वाले का है। मिथ्यात्व नामक प्रकृति के उदय का निमित्त पाकर वह प्रभाव वना है। अत स्वरूप दृष्टि से देखो तो आत्मा और कर्म मे सम्बन्ध नहीं है, फिर भी निमित्त नैमित्तिक भाव का सम्बन्ध है, निमित्त नैमित्तिक अत्यन्ता भाव वाले पदार्थ मे होता है। और जहा एक द्रव्य मे भी एक गुण के परिणमन का निमित्त पाकर अन्य गुण मे परिणमन होता है। जैसे कि आत्मा मे इच्छा परिणमन का निमित्त पाकर आत्मा मे योग परिणमन होता है। वहा यद्यपि इन दोनो गुणो का आधारभूत पदार्थ एक है तो भी उन गुणो के स्वरूप का परस्पर मे अभाव है।

अचेतन के कार्य की अचेतन से तन्मयता–

यह मिथ्यात्व नामक प्रकृति पौद्गलिक कार्माणवर्गणा का तत्व है अचेतन है और यह आत्मा चेतन है। आत्मा के विभावो मे यह मिथ्यात्व प्रकृति निमित्त होती है, इस मूल विवाद को लेकर जिज्ञासुने यह बात खडी की कि मिथ्यात्व नामक प्रकृति जीव के मिथ्यात्व भाव को करती है। इसके समाधान मे यह बता दिया है आचार्य देव ने कि यदि मिथ्यात्व प्रकृति जीव के मिथ्या भाव को करदे तो इसका अर्थ यह हुआ कि जीव के मिथ्या भाव का करनेवाला अचेतन कर्म हुआ। अव इससे उल्टो एक समस्या और रखी जा रही है कि जीव पुद्गल द्रव्य के मिथ्यात्व करता है, उसका समाधान भी इसी गाथा मे है —

अहवा एसो जीवो पुग्गलदव्वस्स कुणइ मिच्छत्तं ।
तम्हा पुग्गलदव्वं मिच्छाइट्ठी ण पुणजीवो ॥ ३२६ ॥

पुद्गल के भाव मिथ्यात्व की मान्यता में आपत्ति—

जैसे कि आत्मा के विभाव होने मे पुद्गल कर्म निमित्त होते हैं इस ही प्रकार पौद्गलिक कार्माण वर्गणावो मे कमपना आने मे जीव का विभाव निमित्त हाता है। इस प्रसग मे अब जरा यह देखो कि मिथ्यात्व वास्तव में किसकी चीज है। मिथ्यात्व का अर्थ है मिथ्या परिणमन। विपरीत वात, विपरीत भाव, विपरीत भाव जीव मे तो समझमें आता है कि जीव मे मिथ्यात्व हो गया, पर यह कुछ वात ठीक साक्षात नहीं वैठती है कि कार्माण वर्गणावो मे भी मिथ्यात्व आगया, लेकिन कहा है कर्मो का नाम मिथ्यात्व। कर्मो का नाम मिथ्यात्व कैसे पड गया,। कर्मो मे क्या मिथ्यापन है? अचेतन है, रूप, रस, गन्ध स्पर्श का पिण्ड है, हं और यह भी सही है कि जीवके मिथ्यात्व भाव का निमित्त पाकर पौद्गलिक कर्म बध गया, एक क्षेत्रावगाह हो गया, जहा आत्मा जाता है उसके साथ यह भी जाता है। इतना तक भी ठीक है पर उसमे मिथ्यात्व क्या आगया। अव देखो कि मिथ्यात्व जीव का भाव है और जीव के मिथ्यात्व भाव का निमित्त पाकर कर्म मे कुछ ऐसी वात बनी है, ऐसा कर्म बँधा है कि जिस कर्म का भविष्य मे उदय आने पर जीव को मिथ्यात्व का भाव वनेगा। तो जो जीव के मिथ्यात्व भाव का कार्य है (निमित्त दृष्टि से कहा जा रहा है) और जो आगामी काल मे जीव के मिथ्यात्व भाव का कारण वनेगा उस कर्मका नाम भी मिथ्यात्व पड जाता है।

जीव भाव के मिथ्यापन की युक्तता—

भैया! अब ध्यान मे आया होगा कि सही नाम तो जीव के परिणामका नाम है मिथ्यात्व और सम्बन्धवश पौद्गलिक कर्म प्रकृति का नाम मिथ्यात्व पडा। तो देखो ना कि जीव ने पुद्गल द्रव्य का मिथ्यात्व किया है, ऐसी शिष्य के जिज्ञासा होने पर आचाय देव कहते है कि यदि ऐसा मानेंगे कि यह जीव पुद्गल द्रव्य का मिथ्यात्व करता है तो पुद्गल द्रव्य मिथ्यादृष्टि हुआ, जीव मिथ्या दृष्टि नहीं हुआ। जीव ने पुद्गले का मिथ्यात्व किया तो पुद्गल ने

पुद्गल का मिथ्यात्व किया तो मिथ्या कौन बना ? पुद्गल। तो जीव फिर मिथ्यादृष्टि न रहा, पुद्गल कर्म ही मिथ्यादृष्टि रहा, इस कारण आपके जो द्वितीय प्रश्न की उपस्थिति है यह भी सही नहीं बैठती।

अचेतन कर्म प्रकृति जीवके मिथ्यात्व को करे तो चाहे आपत्ति यह आये कि जीव का करनेवाला अचेतन बन गया, किंतु दूसरी जिज्ञासा मे, यदि ऐसा माना जाय कि जीव पुद्गल कर्म को मिथ्यात्व को करता है तो इसमें पुद्गल मिथ्यादृष्टि बन गया। अब जीव नहीं रहा। इन दोनो पद्धितयो को सुनकर के जिज्ञासु फिर तीसरी बात रखता है और फिर आचायदेव उसका समाधान करते है।

अह जीवो पयडी तह पुग्गलदव्व कुणति मिच्छत्त ।
तम्हा दोहि कदत दोण्णिवि भुंजति तस्सफल ॥ ३३० ॥

भाव मिथ्यात्व की उभयकृतता मानने पर आपत्ति—

जीव और प्रकृति ये दोनो पुद्गल के मिथ्यात्व को करते हैं, यदि ऐसा मानते हो तो दोनो के द्वारा किया गया जो कार्य है उसका फल उन दोनो को भोगना पडेगा, अर्थात् मिथ्यात्व को जीव भी भोगे और कर्म भी भोगे। एक बात कुछ ऐसी प्रसिद्ध है कि प्रकृति तो कर्म का कर्ता होता है और पुरुष कर्म के फल का भोक्ता है, इसमे एक दृष्टान्त आता है कि जीव स्वय कर्म को करने वाला नहीं हैं उसमे पर उपाधि निमित्त अवश्य होती है, जो पर उपाधि निर्मित है वह कर्ता हुआ जीव के राग द्वेषादिक भावो का, पर रागद्वेषादिक भावोका भोक्ता कौन है ? यह समझाने के लिए अपरिणामी सिद्धान्त मे प्रसिद्ध बात है कि प्रकृति कर्ता है और पुरुष भोक्ता है। उनके सिद्धान्त मे रहस्य क्या बना हुआ है कि राग द्वेषादिक का करनेवाला आत्मा कतई नहीं है क्योंकि वह चैतन्य स्वरूप है।

ज्ञान रहित चैतन्य की कल्पना—

साख्यो ने आत्मा को चैतन्य स्वरूप यो माना कि समझ लीजिए जडवत् है, वह चैतन्यमात्र है, वह जानता नहीं है, देखता नहीं है, जानना और देखना प्रकृति का धर्म है। साख्य सिद्धान्त मे बताया है कि प्रकृति का

धर्म जानन है, ज्ञान है. जीव का धर्म ज्ञान नहीं है। जीव का स्वरूप तो चैतन्य है। अब जरा इसमे कुछ प्रश्नोत्तर करके देखो कि वह चेतन क्या है, जो न जानता है न देखता है फिर भी चेतता है? तो उत्तर मे यह बताया है कि जब बुद्धि का सयोग होता है चैतन्य मे तब अज्ञान या ज्ञान परिणमन होता है और बुद्धि का संयोग मिट जाय तो ज्ञान परिणमन भी मिट गया और इसी का नाम मोक्ष है। जबतक जीव मे ज्ञान है तबतक यह ससार मे है और जब ज्ञान नहीं रहा तब यह जीव मुक्त हो जाता है।

ज्ञान रहित चैतन्य की मान्यता से शिक्षा की ओर झुकाव का यत्न

इस साख्य सिद्धात मे रहस्य की बात क्या मिली? कि ज्ञान उसे माना गया है जो पर को पकडकर दन्द फन्द मे पडे। वह ज्ञान क्षायोपशमिक है। इस ज्ञान का बुद्धि से सम्बन्ध है। उस ही ज्ञान का नाम बुद्धि है, यह ज्ञान जब तक रहता है तबतक मुक्ति नहीं होती है। ऐसी यह बात तो ठीक है किंतु चेतन में जो स्वपर प्रकाशकता है जो इस प्रकार के अभेद रूप हैं कि जिसका वाह्यरूपक कुछ बताया नहीं जा सकता फिर भी स्वपरग्राहिता है ' केवल ज्ञान के विषय मे लोग यो बोलते है कि उन्होने जो मकान जो दूकान जो फर्श, बहनोई, साले, स्वसुर जहाँ जैसे देखे वैसा होता है सो भैया! वहाँ लेप लपेट आदि नहीं है। अरे! केवल ज्ञानी का ज्ञान कितना साधारण स्वरूप होता है कि जहाँ विकल्पो का अवकाश नहीं। केवल का ज्ञान है। जैसा उनका ज्ञान है उस ज्ञान के जरिये से यहाँ ससारी जीवो का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है, परन्तु है उनका निर्मल ज्ञान। समस्त त्रिलोक त्रिकाल का ज्ञान है, ऐसा ज्ञान स्वरूप चैतन्य का स्वभाव ही है, इस ओर दृष्टि नहीं देते पर ज्ञान को मोटे रूप मे देखने पर यह बात ठीक बैठती है कि जब तक ज्ञान है तब तक ससार है. ज्ञान नहीं रहा तो संसार मिट गया, पर मोक्ष होने पर भी ज्ञान इतना साधरण व्यापक रूप से रहता है कि इसे बहुत सूक्ष्म दृष्टि करने पर ज्ञान मे आता है।

ज्ञान की सूक्ष्मता और व्यापकता—

भैया! ज्ञान बहुत पतली चीज है क्योकि वह व्यापक है पतली चीज मे मोटी चीज समाया करती है। मोटे मे पतली चीज समा सकती है क्यो? नहीं! पतली मे मोटी चीज समा जाती है। सुनने मे आपको कुछ विढगासा

लग रहा होगा। जो मोटा है उसमें पतला आ ही जायगा। पर पतले मे मोटा कैसे आयगा ? सुनो अच्छा, कैसे पतले मे मोटा आता है। देखो यह जमीन मोटी है और पानी पतला है, तो पानी के बीच मे जमीन है या जमीनके बीच में पानी है ? पानी के बीच मे जमीन है। पूछलो भूगोलवालो से। पूछ लो उमा स्वामी से स्वय भू रमण समुद्र से। इतना सब कुछ घेर लिया कि सारा समुद्र और सारी जमीन का जितना विस्तार है उससे भी अधिक विस्तार अन्तिम समुद्र का है। तो पतली मे मोटी चीज आयी। बतलाओ पानी पतली चीज है या हवा ? हवा पतली है। उस हवामे सब पानी भी समा गया। अच्छा हवा पतली है कि आकाश ? आकाश तो आकाश मे सब हवा भी समा गयी। फिर भी वह आकाश बडा है। अच्छा आकाश पतला है कि ज्ञान ? ज्ञान पतला है तो इस ज्ञान मे यह सारा आकाश समा गया फिर भी ज्ञान को यह माग है कि ऐसे ऐसे अनगिनते आकाश हो तो हमारी भूख मिटेगी। जानने की नहीं तो हम भूखे ही हैं वह सारा आकाश ज्ञान के एक कोन में पडा है।

रागादि भाव की उभय कृतता का अभाव—

भैया ! ऐसा ज्ञान ही जब न ध्यान मे रहा तो प्रकृति का धर्म ज्ञान बताया जाता है। जब ज्ञान भी प्रकृतिधर्म हुआ तो रागादिक को तो प्रकृति धर्म कहना ही चाहिए। तो इस मिथ्यात्वादि भावको जीव और प्रकृति दोनो मिलकर करते हैं, तो फिर इस मिथ्यात्व का भोक्ता जीव और प्रकृति दोनो को होना चाहिए। पर है क्या ऐसा ? जैसे जीव परेशान है इसी तरह से क्या कर्म प्रकृति भी भ्रमी है, परेशान है ? नहीं। वह तो अचेतन है, कुछ भी दशा बन जाय उससे उसका क्या बिगाड। तो यह भी बात ठीक नहीं बैठती कि जीव और प्रकृति दोनो मिलकर पुद्गल के मिथ्यात्व को कर दें। इसके बाद चौथी बात रखेंगे।

अहण पयडी ण जीवो पुग्गलदव्वं करेदि मिच्छत्तं।
तम्हा पुग्गलदव्वं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा ॥ ३३१ ॥

बिभाव की किसी के द्वारा कृतता न मानने पर आपत्ति—

प्रकृति को जीव का मिथ्यात्व करना मानने में दोष बताया है। जीव को पुद्गलका मिथ्यात्व करना माननेमे दोष बताया है और दोनो मिलकर पुद्गल द्रव्य के मिथ्यात्व को करें इसमे भी दोश बताया है और तब चौथी बात यह कही जा रही है कि न तो प्रकृति और न जीव पुद्गल द्रव्य को भाव मिथ्यात्व रूप करता है तो पुद्गल का अब मिथ्यात्व रूप परिणमन मानना क्या असत्य नहीं हुआ ? क्या बात निकली अब तक ?

प्रथमपक्ष—

काई कहते है कि जीव ही अब तक मिथ्यात्व आदिक भाव कर्म का कर्ता है क्योंकि उसको अचेतन प्रकृति का कार्य मानने पर उसमे अचेतनता आ जायगी। याने जीव मे जो मिथ्यात्व परिणाम होता है उसका कर्ता जीव है। सो विभाव को जीवकृत मानने पर विभाव शाश्वत बन बैठेगा । अज्ञान अवस्था तक यह तो है सिद्धात की बात, अब इसके विपरीत मे कोई बात सोची जा रही है।

द्वितीयपक्ष—

जीव मे होनेवाले मिथ्यात्व को यदि प्रकृति का कार्य माना जाय तो कारण सदृश कार्य होता है , इस नियम के अनुसार मिथ्यात्व भाव मे अचेतनता आजायगी, अर्थात् वह चिदाभास न रहकर कोरा अचेतन का परिणमन होगा और यदि होगया अचेतन का परिणमन तो अचेतन क्लेश पाये तो पाय। जीव की फिर क्या अटकी कि वह अपने हित का उद्यम करे।

तृतीय पक्ष—

तीसरा बात यह है कि जीव अपने ही मिथ्यात्व भाव का कर्ता है। पुद्गल मे मिथ्यात्व परिणाम कर दे ऐसा नहीं है। कोई द्रव्य किसीभी द्रव्य का परिणमन करदे अर्थात उस रूप परिणम जाय यह त्रिकाल नहीं होता। जीव

ही अपने मिथ्यात्व परिणाम का कर्ता होता है। यदि यह जीव पुदगल द्रव्य मे मिथ्यात्व भाव कर्म करदे तो या तो पुद्गल जीव वन जायगा या पुद्गल चेतन वन जायगा।

चतुर्थ पक्ष—

चौथी वात यह है कि जीव और प्रकृति मिथ्यात्व आदिक भाव कर्म के ये दोनो ही कर्ता हो जाये। तो जीव की तरह अचेतन प्रकृति को भी फल भोगने का प्रसग हो जायगा।

पंचम पक्ष—

और भैय्या! ऐसा भी नहीं कह सकते कि जीव और प्रकृति दोनो के दोनो मिथ्यात्व आदि के भाव कर्म के कर्ता नहीं है अन्यथा स्वभाव से ही द्रव्य मे मिथ्यात्व परिणाम आ जायगा। देखो किसी विभाव परिणाम मे निमित्तभूत पर उपाधि न मानी जाय तो विभाव स्वभाव से होगया। विभाव स्वभाव परिणमन हो गया ऐसी उसमे आपत्ति आ गई। इस कारण यह ही सिद्ध होता है कि जीव कर्ता है और जीव का कर्म है कार्य है यह बात सिद्ध होती।

स्याद्वाद द्वारा निर्णय—

भैय्या! मिथ्यात्व भाव जो आया वह कार्य है ना। कार्य उसे कहते है कि पहले तो न था और अब होगया ऐसा जो जो कुछ भी हो वह सब कार्य कहलाता है, तो मिथ्याभाव आना यह कार्य है, इसलिए यह कर्म विना किए हुए चू कि हैं नहीं और इस बात मे भी किसी एक वात पर दृढता से नहीं रह सकते कि किसने किया। जीव ने भी नहीं किया कर्म ने भी नहीं किया। दोनो ने भी नहीं किया। और दोनो ने नहीं किया सो भी नहीं है। यह क्या निर्णय है। तत्व ज्ञानी पुरुष का ऐसा ही विलास है ऐसी ही लीला है कि चारो की चारो बातें वहा सिद्ध होती हैं।

कृतिके प्रसंग में बालक का दृष्टान्त—

एक बालक है इस बालक को मा ने पैदा किया क्या ? नहीं। बापने पैदा किया क्या ? नहीं। और दोनो ने किया क्या ? नहीं। तो क्या दोनो ने नहीं किया ? तो और बात है क्या ? बडी कठिन बात है। माँ ने केवल पैदा नही किया। समझमे आ गया। बापने केवल पैदा नहीं किया। समझ मे आ गया। अच्छा यह भी समझ मे आ गया कि चूंकि पुत्र पृथग्द्रव्य है सो मा बाप दोनो ने मिलकर उस पृथक भूत अन्य द्रव्य को उत्पन्न नहीं किया। अच्छा यह भी ठीक जच रहा है। और दोनो ने नहीं किया ऐसा भी नहीं है क्यो कि आखिर वह एक कार्य ही तो है। तब फिर क्या है ? तो यह विवरण बहुत बडे लम्बे चौडे वर्णन के साथ बताया जायगा। इसी तरह रागादिक को जीवने नहीं किया क्यो कि केवल जीव करे तो जीव का स्वभाव बन जायगा। और फिर कभी छूट न सकेगा। कर्मो ने भी नहीं किया। क्यो कि कर्म पृथक भूत वस्तु हैं, वे जीव का परिणमन नहीं करते और जीव, कर्म दोनो ने मिलकर नहीं किया, क्यो कि यदि इम मिथ्यात्व रागादिक भावो को जीव कर्म दोनो मिलकर करते है, उसका फल दोनो को भोगना चाहिए। केवल जीव ही क्यो भोगे। और दोनो ने नहीं किया यह भी बात नहीं है क्यो कि वह कार्य है स्वत नहीं किया गया है, तब फिर बात क्या है अन्तिम ?

विभाव के कर्तृत्व के सम्बन्ध में निर्णय—

भैया ! इसका निर्णय यह है कि जीवका मिथ्यात्व जीवका कर्म है और वह जीव से अन्वयरूप है। जोवमे अनुगत जीव मे ही उद्गत होता है। पुद्गल मे चित्स्वरूप नहीं है। इसलिए वहा रागादिक उद्गत नहीं होते। तब यह सिद्ध हुआ कि अज्ञान अवस्था मे पुद्गल का निमित्त मात्र पाकर जीव रागादिक का कर्ता होता है। जो लोग जीवके रागादिक भावो को करने वाले कर्म ही समझते है, आत्मा के कर्तृत्व का घात करते हैं उन्होने इस आगम वाक्य का कुछ भी ख्याल नहीं किया कि कथञ्चित् यह आत्मा ही रागादिकका कर्ता है। उन्होने आगम के विरुद्ध निरूपण किया।

प्रकृत जिज्ञासा का मूल मर्म—

चीज कहा से उठ रही है ? साख्य सिद्धात मव जालो को प्रकृति के द्वारा किया हुआ मानता है। बात कुछ फबती सी भी है, रागादिक को कर्मो ने किया, क्योंकि जीव ही करे तो स्वभाव बन जाय। पर भोगने वाला कर्म नहीं है, जीव ही भोगने वाला है। ऐसा साख्य सिद्धात को लेकर यह चर्चा चल रही है, तो फिर इस आत्मा ने किया क्या ? और जो कुछ नहीं करता, कुछ नहीं परिणमता वह सत् ही नहीं है। है क्या विश्व मे कोई ऐसा पदार्थ कि जो है और परिणमे बिलकुल नहीं ? ऐसा कोई पदार्थ नहीं है। क्या खरगोसके किसी ने सींग देखा है ? नहीं होते हैं न। तो जो नहीं है वे क्या परिणमेगे और जो है वे परिणमे बिना नहीं रहेगे।

परिणमन का आधार—

भैया ! बच्चे लोग दवाई बताया करते हैं कि धुवा की छाल और बादल की कोपल ले आओ उन्हे गध की सीग से रगड कर उसे पीलो तुम्हारी तबियत अच्छी हो जायगी। तो भाई धुवाकी छाल कहा मिलती है ? बादलकी कोपल लखो कोई ढू ढ के। और गधे का सींग भी किसी ने देखा है क्या ? तो असत् पदार्थ का न परिणमन है और न उसका उपयोग है। जो परिणमन शून्य है वह असत् है। जो सत् है वह कभी परिणमन शून्य नहीं हो सकता। एक परिणमन के दो द्रव्यकर्ता नहीं होते हैं। एक द्रव्य दो द्रव्यो का परिणमन नहीं कर सकता। अपने को करे और पराये को भी करे। कोई किसी का कुछ कर दे क्या हर्ज है, वैसे ही आज सहयोग का जमाना है यदि कोई किसी का कुछ करदे तो कोई एक ही रहेगा, कौन न रहेगा। सब नष्ट हो जावेंगे। इस कारण यह वस्तुगत् नियम है कि एक स्वय ही परिणमेगा। उसे कोई दूसरा नहीं परिणमाता।

विभाव परिणमन की पद्धति—

विभाव रूप परिणमने वाले तत्त्व मे ऐसी ही योग्यता है कि वह अन्य

उपाधि का निमित्त पाकर अपने विभाव रूप परिणम जाता है। पर इस विभाव परिणमन का निमित्त ने कुछ नहीं किया। उसका यहा अत्यन्ताभाव है। वह अपना बाहर ही रहा किन्तु हो जाता है यो परिणमन। देखो इन सब श्रोतावो का निमित्त पाकर हम बोल रहे है। पर इनका कुछ भी द्रव्य, गुण, पर्याय मुझमे नहीं आया और जो मेरी चेष्टा है यह है एक असर। यह असर भी आपका नहीं है, किंतु ऐस ही निमित्त नैमित्तिक सम्वन्ध का मेल है कि आपका निमित्त पाकर हम चेष्टा कर रहे है। अपना असर अपने मे हम खुद उत्पन्न कर रहे हैं। अथवा मेरे इस प्रवर्तनका निमित्त पाकर आप सब सुनने रूप परिणमन कर रहे हैं। यहा भो हम आपमें स्वय भी नहीं गए। अपनी ही जगह आप अपने ही स्थान मे हैं, पर ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध का मेल है कि किया कराया किसी ने किसी का कुछ नहीं है।

सत् के परिणमन की अवश्यंभाविता

यहा जिज्ञासु श्रमण अपना यह पक्ष रख रहा है कि रागादिकको करनेवाली कर्म प्रकृति है। तो उनको समाधान दे रहे है कि यदि कर्म प्रकृति ने राग किया तो आत्मा ने क्या किया ? और आत्मा ने यदि कुछ न किया तो जो कुछ भी नहीं परिणम सकता वह पदार्थ ही नहीं है। सिद्ध भगवान भी निरन्तर परिणम रहे हैं। हम आपका ज्ञान तो अन्तर्मुहूर्त मे किसी विषय को ग्रहण करता है पर सिद्धका ज्ञान एक एक समय मे समस्त पदार्थो को ग्रहण करता रहता है। इतनी तेजी से परिणमने वाले सिद्ध हैं। अपने लोग तो कछुवा की चाल की तरह परिणम रहे हैं, याने किसी पदार्थ के जानने का उपयोग बनाने मे अन्तर्मुहूर्त का समय लगता है फिर भी यहा बस्तु का भले प्रकार परिज्ञान नहीं, सो भी ऐसे एक अन्तर्मुहूर्त मे जिसमे अनेक अन्तर्मुहूर्त समाये हुए है, किंतु सिद्ध भगवान का ज्ञान एक एक समय मे पूर्ण-पूर्ण जानता है।

स्याद्वाद का परिचय

भैया ! जो न परिणमें वह सद्भूत हो नहीं रह सकता। तुम यह क्या कह रहे हो; प्रकृति ही करता है। ऐसे प्रकृतिवादियो के मोही मलिन बुद्धियो के बोध कराने के लिए उनकी शुद्धि करने के लिए अब वस्तुस्थिति बतायी गयी जिस वस्तुस्थिति का कलन स्याद्वाद के नियम द्वारा हुआ है। स्याद्वादका अर्थ है अपेक्षावाद। इस अपेक्षा से ऐसा है इस अपेक्षा से ऐसा है। एक बात आज लोगो मे प्रसिद्ध है कि स्याद्वाद का चिन्ह 'भी' को कहते है, ऐसा भी है, ऐसा भी है, पर यह बात सही नहीं है स्याद्वाद का चिन्ह 'ही' है यदि हम आपके बच्चे के बाबत कह दे क यह अमुकचन्द का बेटा भी है और बाप भी है तो क्या आप सुनना पसन्द करेंगे। न पसन्द करेंगे। "भी" चिन्ह नहीं है, स्याद्वाद का चिन्ह "ही" है। यह अमुकचन्द का बेटा ही है। अपेक्षा लगाकर बात बताने में "ही" का प्रयोग करना चाहिए। अपेक्षा बताकर बात बताने के बाद भी का प्रयोग करेंगे तो उसमें विवाद उठ खडा हो जायगा। शास्त्रो में भी जितने कथन है स्याद्वाद विषयक सब जगह ही का प्रयोग है, भी का प्रयोग शास्त्रो में स्याद्वाद बताते हुए कहीं नहीं किया गया। यह आजकी प्रणाली में समझाने में आ रहा है।

स्याद्वाद की निश्चायकता

भैया ! जहा स्याद्वाद के भङ्ग बताए हैं वहा यही तो कहते है कि जीव स्यात् नित्य एव। ग्रथो मे खूब देखलो – जीव स्यात् अनित्य एव जीव स्यात् अवक्तव्य एव। आगे इसमे एव लगा हुआ है। भी लगाने की पद्धति कब से निकली। जब कि अपेक्षा तो मुख से न कहना। उसे तो अपने मनमे रखे रहे और धर्म बतावे तब वहा भी फिट बैठने लगा, जैसा मनमे समझलो जिसकी जो अपेक्षा है और कहे जीव नित्य भी है और जीव अनित्य भी है, अभी अपेक्षा लगाली पर स्पष्ट वर्णन नहीं हुआ। कहना यह चाहिए कि जीव द्रव्य दृष्टि से

नित्य ही है। जीव पर्याय दृष्टि से अनित्य ही है, इस तरह ही का प्रयोग करते है, बोलते है, यह निश्चायक शब्द है। धर्म पडा है बीचमे और उसको कसने वाले शब्द हैं अगल बगल। जो धर्म नित्य बताते है तो एक ओर लगाते है स्यात् और एक ओर एव। स्यात् नित्य एव।

अपेक्षा और निश्चय से धर्म की प्रसाधनता—

भैया! यह पहाड की कठिन चढाई है। चढाई करने मे रेल मे २ इंजन लगते है, एक आगे और एक पीछे। यह दुर्गम है वस्तु स्वरूप का प्रवेश। दुर्गम है यह स्याद्वाद का सिद्धान्त। गाडी यहा चढाई जा रही है। इसमे दो इंजन लगा दिया। आगे स्यात् और पीछे एव। तब वह धर्म की गाडी सम्हल रही है। अगर एक ही इंजन लगादें तो गाडी लुढक जायगी। एव न लगाने से संशय आ गया और स्यात् न लगाने से एकान्त आ गया। यहीं घटाकर देखलो। एक बालक मे जिसका नाम कुछ रखलो, मानो रमेश रख लिया है और रमेश के बापका नाम है अशोक। तो यह रमेश अशोक का लडका ही है। ही लगावेंगे ना। कि भी लगावेंगे, कि यह अशोक का लडका भी है? यह कितना अशोभनीय होगा। और अपेक्षा लगाते जावो तो चाहे बहुतसी बातें कहते जावो यह बालक अमुक का भाजा ही है, अमुक का भतीजा ही है। अपेक्षा लगाकर ही लगाना चाहिए तब स्याद्वाद का रूपक बनता है।

रागादिक की कृतिता पर स्याद्वाद का निर्णय

स्याद्वाद से जिसने विजय प्राप्त की है ऐसी वस्तुस्थिति अब दिखाई जारही है कि वास्तव मे बात क्या है? इस जीव के रागादिक भावो का कर्ता कौन है? जब भारी उसमे तर्कदृष्टि करके निहारते है तो ऐसा लगने लगता है कि ये राग भाव लावारिश है। इनका न जीव धनी है न कर्म धनो है, और है भो है। सो जैसे सडक पर बीच मे कोई बच्चा खेल रहा हो तो मोटर वाले कहते है कि तू घरका फालतू है क्या? तू लावारिस है क्या? तू मरने के लिए आया है क्या? इसी तरह ये रागभाव फालतू है, लावारिश हैं, मरने के लिए पैदा हुए हैं अपनी धाक जमाने के लिए नहीं हुए। फिर भी उसको जब युक्तियो से सिद्ध करें, विज्ञान से देखें तो उसमे सब बाते समझनी पडेंगी?

उपादान क्या, निमित्त क्या ? कार्य कारण सब बातें जाननी पडती हैं, तब मर्म ज्ञात होता है।

त्रुटि की पहिचान की सावधानी—

हम आपके रागभाव को देखकर यह सोचते है कि कैसी असावधानी और मूर्खता कर रहे है कि राग छोडा नहीं जाता। धरा क्या है। पर पर ही है, यह यह ही हैं। सो परका कालतू जान लेना सरल हो रहा हैं और जो स्वय पर बीत रही है सो स्वय क्यो नहीं छोड देता, क्यो निर्विकल्प समाधि मे नहीं आता। सो ऐसी बात औरो के लिए जल्दी समझमे आती है कि इसको इतना मोह करना न चाहिये, पर कर रहा है।

ऐसा ही अपने बारेमे कुछ समझना चाहिए कि हम व्यर्थ का मोह कर रहे हैं, करना न चाहिये पर कर रहे है। त्रुटि भी यदि त्रुटि मालूम पड जाय तो यह भी एक ज्ञान है। और त्रुटि को सही मानते रहे तो यह भुलावा है भ्रम है, अज्ञान है। तो इन रागादिक भावो मे निमित्त ले प्रकृति है और त्रुटि जीवकी है परिणति जीवकी है। इस बात को आगे सिद्ध किया जायगा। परन्तु पहिले कुछ अपने मनमे तैयारी तो करलें कि हमे राग छोडना ही है इन्हे रखना नहीं है ऐसा मन मे निर्णय किए बिना हम आगे चलेंगे कहाँ तो अब इसी बात को आगे कहेगे।

परिणमन और परिणामी का सम्बन्ध—

यह जीव शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे शुद्धहै अपरिणामीतो भी है पर्यायार्थिक-नय से देखने पर यह कथञ्चित परिणामी होने के कारण और अनादिकाल की परम्परा से चले आए हुए कर्मोदय के वससे यह जीव रागादिक उपाधि परिणाम को ग्रहण करता है। जैसे कि स्फटिकमणि अपने स्वभाव से स्वच्छ है फिर भी

उसमे स्वच्छता होने पर लगे हुए हरे पीले उपाधि के वश वह हरे पीले रंगको ग्रहण करता है। यदि यह जीव स्वय कथञ्चित् परिणामी न हो और प्रकृति ही केवल जीव के रागादिक भावो का करनेवाला हो तो उसमे दोष आता है। एक तो यह कि जब आत्मा परिणामी नहीं हुआ तो आत्मा का अभाव हो जायगा। जो परिणामी नहीं है वह वस्तु ही नही है। दूसरा दोष यह है कि प्रकृतिने ही राग किया तो प्रकृति ही उसका फल भोगे। जीव का इसमे सम्बन्ध क्या।

विकार का आश्रय महाविकार—

यदि यह कहा जाय कि रागादिक तो प्रकृति मे ही होते है, प्रकृति का ही परिणमन है और यह जीव भ्रम से उस परिणमन को अपना मान लेता है। तो वह भ्रम भी क्या प्रकृति का परिणमन है या जीव का परिणमन है ? यदि कहे कि भ्रम भी प्रकृति का परिणमन है तो भ्रमी भी प्रकृति को ही होना चाहिए और जो भ्रमी हो वही रागादिक को ग्रहण करे, और यदि कहे कि रागादिक तो प्रकृति के काम है और भ्रम होता है जीव मे। तो जब रागादिक के पितामह भ्रम की मलिनता जीव मे मानलें तो रागादिक की कहानी क्या। राग भाव तो छोटी मलिनता है, भ्रम बडी मलिनता है। यदि बडी मलिन भ्रम की बात जीव मे माननी पडे और रागादिक भाव न माने तो यह कहा का विवेक है।

परिणमन योग्य में ही परिणमन—

भैया ! जिसमे योग्यता होती है उसमे ही परिणमन होता है। यह भींत खडी है, खम्भे खडे है। इनमे प्रतिविम्व की योग्यता नहीं है। यो काठ, आदि प्रतिविम्ब का योग्यता से रहित है, तो कितनी ही चीजें सामने पडी रहे इनमे प्रतिविम्ब नहीं आता, इस प्रकार ये रागादिक जो झलकते है और होतेहैं इनकी योग्यता जीव मे है यह कथञ्चित् परिणामी है, उस प्रकार का परिणम

सकता है इस कारण इसमे ही रागादिक होते हैं, प्रकृति मे रागादिक नहीं होते है क्योकि प्रकृति मे रागादिक परिणमन की शक्ति का अभाव है, इस ही सम्बन्ध मे अब इस शका का विशेष वर्णन किया जा रहा है। शकाकार कहता है कि हम तो यह देखते है कि कर्म का उदय हो तो रागादिक मिलते है, कर्मो का उदय न हो तो रागादिक कहीं नहीं मिलते। तो हम तो जानते हैं कि इस विभाव परिणाम का करने वाला कर्म ही है ऐसी शकाकार की शका है उसका वर्णन किया जा रहा है।

कम्मेहि दु अण्णाणी किज्जइ णाणी तहेव कम्मेहि।
कम्मेहि सुवाविज्जइ जग्गाविज्जइ तहेव कम्मेहि ॥ ३३२॥

ज्ञान और अज्ञान में कर्मकृतता का पक्ष—

यह जीव कर्मों के द्वारा ही अज्ञानी किया जाताहै, और कर्मों के ही द्वारा ज्ञानी किया जाता है, शकाकार सब कह रहा है अपनी बात शुरू से अन्त तक कह रहा है इस कथन मे यह खूब ध्यान रखना। इस अज्ञान को कर्म करते है। ज्ञानावरण का उदय आया और वहा जीव अज्ञानी बन गया। ज्ञानावरण का क्षयोपशम् मे हुआ कि लो ज्ञानी बन गया। तो हम तो यह समझते है कि कर्मो के ही द्वारा जीव अज्ञानी किया जाता और ज्ञानी किया जाता।

भाग्य से ज्ञान की प्राप्ति की लोक प्रसिद्धि—

जैसे कोई लोग कहने लगते है कि भाग्य मे लिखा है तो मोक्ष मिल जायगा हा अरे भाग्य मे बढ़ने से मोक्ष मिलता है कि, भाग्य के फूटने से मोक्ष मिलता है? भाग्य फूटे तो भगवान बनता है, और जब तक भाग्य है तब तक ससार मे रहता है। भाग्य माने कर्म। तो यह प्रशसा है मगर किसी से कहा जाय कि तेरा भाग्य फूट जाय तो यह तो उसका हित चाहा जा रहा है। लेकिन सुनकर लोग उसे गाली मानते हैं। कुछ खराब हो गया उसका तो कहते हैं भाग्य फूट गया। अरे फूटना क्या आसान बात है कि जिसका भाग्य फूटा

उसके तीन लोक के इन्द्र चरणो मे झुकते हैं। लोग अज्ञान मे कहते है कि भाग्य मे वदा होगा तो मोक्ष मिल जायगा। भाग्य से ही ज्ञान मिलता है अब तो ऐसा कहनेवाले हैं। यदि भाग्य है तो ज्ञान है। भाग्य से मिलता है ज्ञान। यह विदित नहीं है कि भाग्य के क्षय होने से ज्ञान मिलता है।

ज्ञान अज्ञान की कर्मकृतता का पक्षोपसंहार—

ज्ञानावरण कर्म के उदय होने पर जीव अज्ञानी वनता है। देखा है कही कि ज्ञानावरण नामक कर्मो का उदय नहीं हो और जीव अज्ञानी बन जाय ऐसी कहा परिस्थिति देखी हैं और ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम न हो और जीव यहा ज्ञानी वन जाय ऐसी कहीं परिस्थिति देखी है, इसलिए हम जानते है कि कर्म ही जीव को ज्ञानी वनाते है और कर्म ही जीव को अज्ञानी वनाते हैं।

निद्रा व जागरण की कर्म कृतता का पक्ष—

कर्म ही जीव को सुलाता है, कर्म ही जीव को जगाता है। यहा सुलाने कौन आयगा ? वच्चे को यदि उसकी मा ने थपथपा दिया तो उसे नींद आ जाती है। तो क्या मा ने सुला दिया या उस वच्चे का छोटा भाई पकड कर झकझोर दे तो क्या छोटे भाई ने उसे जगा दिया निद्रा नामक दर्शनावरण कर्म का उदय हुआ तो यह जीव सो जाता है तीव्र उदय से या उदीरणा से। निद्रा का उदय सदा रहता है। पर निद्रा सदा कौन लिया करता है ? जव निद्रा का तीव्र उदय या उदीरणा हो तो निद्रा आती है। तो देखो प्रकृति ने ही सुलाया ना। तो निद्रा नामक दर्शनावरण का उदय विना जीव सोता नहीं और निद्रा दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम के विना जीव जगता नहीं है इसलिए सुलाने वाली भी कर्म प्रकृति है और जगाने वाली भी कर्म प्रकृति है। यह सब शकाकार कह रहा है।

वस्तु के स्वपरिणाममयता के कथन का विज्ञानविस्तार—

सिद्धात क्या है भैया ! सुलाना किसका नाम है, सुलाना यदि एक वेहोशी

का नाम हो, तन्द्रा का नाम हो तो ऐसी वेल्वग पारणति कर्म की नहीं हो रही है, वह जीव की हो रही है। जितना पदाथ है उतने मे ही परिणमन तको। निमित्त पाकर यद्यपि विभाव होते हैं निमित्त पाए विना नहीं होते फिर भी जरा द्रव्य के स्वरूपास्तित्व को तो निरखो। पदार्थ का कोई भी परिणमन कोई किसी अन्य पदाथ से नहीं होता। सर्व विशुद्ध अधिकार मे सवसे पहिले ही यह बात वतादी गई कि प्रत्येक द्रव्य अपने ही परिणामो से तन्मय रहा करता है। अब इस एक ही वात मे अर्थ निकालने लग जावें। जब प्रत्येक पदार्थ अपने परिणामो से तन्मय है तो दूसरा क्या करनेवाला है दूसरे का। और दूसरा दूसरे का क्या भोग सकता है। दूसरा किसी दूसरे का अधिकारी कैसे है ? सब विकल्पो से रहित केवल एक द्रव्य ही दिखता है।

शकाकार ही अपनी शका का पोषण करता जा रहा है इन सब परिणमनो मे जीव का कुछ नहीं है। जीव तो बेचारा चेतन्यस्वरूप है और जितनी भी यहा खटपट होता है ये सब कर्मो के द्वारा की हुई हैं, और भी यह एक प्रश्न कर रहा है।

कम्मेहि सुहाविज्जइ दुक्खाविज्जइ तहेवकम्मेहि।
कम्मेहि य मिच्छत्तं णिज्जइ णिज्जइ असंजमं चेव ॥३३३॥

सुख दुख की कर्मकृतता का पक्ष—

कर्म के ही द्वारा यह जीव सुखी किया जाता है कर्म के ही द्वारा यह जीव दु खी किया जाता है, कर्म के ही द्वारा जीव मिथ्यात्व को लिवाया जाता है। और कर्मो के ही द्वारा यह जीव असयम को प्राप्त होता है बात यद्यपि ठीक है। सातावेदनीय के परिणाम उदय आए बिना कौन जीव सुखी होता है इस ससार के सुखसे ? क्या जीव के सुखी होने मे कर्म प्रकृति निमित्त नहीं है। यदि नहीं है तो यह वैषयिकके सुख जीव का स्वभाव बन जायगा। पर जिसके आशय मे यह बात पडी हो कि जीव सुखरूप नहीं परिणमता, सुख रूप भी कर्म परिणमता है और इस जीव मे वह परिणमन मात्र झलकता है। ऐसा

जिनका आशय है उनकी ओर से यह शंका है कि कर्म ही जीव को सुखी करते है, अर्थात् सुख परिणमन भी प्रकृति का है जीव का नहीं है।

अपरिणामैकान्त का प्रतिषेध—

इस कर्मैकान्त के सिद्धातका खण्डन किया तो गया है आगे, पर यह जानलो कि जो अपरिणामी सिद्धान्त है उसका खण्डन है। कहीं निमित्त भाव का खडन नहीं है। निमित्त के खण्डन से तो जीव की दुर्गति होगी, स्वभाववन बैठेगा पर सिद्धान्त ऐसा मानते है—प्रकृते तस्मादपिर्महान ततोऽहकास्तस्माद गणश्च षोडषक। षोडपकात्पञ्चभ्य —पंचभूतानि। उसका यह प्रकरण है। यहा कोई जैन सिद्धान्त नहीं बोला जा रहा है प्रकृति से तो महान् होना है। महान् मायने बुद्धि। सबसे पहिले प्रकृति ने विकार किया तो ज्ञानरूप परिणमन किया, यह प्रकृति का विकार है क्योकि ये सर्व दिक्कतें ज्ञान से शुरू हुई। न जानते तो वात ही कुछ न थी। तो ज्ञान द्वारा यह सब गडवडी हुई ऐसा साँख्य सिद्धान्त है। प्रकृति से पहिले महान् पैदा हुआ, वुद्धि पैदा हुई, ज्ञानविस्तार पैदा हुआ, फिर इससे अहङ्कार बना। यह सारी सृष्टि प्रकृति का ही विकार है, इसको सिद्ध किया जा रहा है।

प्रकृति परिणामैकान्तवाद से निजके प्रमाद की सुरक्षा—

घमण्ड पैदा हो अहबुद्धि हो, यह मै हूँ, मैं मनुष्य हूँ तिर्यञ्च हूँ आदि अहंकार आए। तो जब अहकार आए तब इससे अनर्थ उत्पन्न होता है। इन्द्रिय ज्ञान-जगे कर्म इन्द्रिय और ज्ञान इन्द्रिय। हाथ पैर आदि का चलना अङ्ग वगैरह का उठना ये सब कर्म इन्द्रिय हैं, और स्पर्शन, रसना आदि का ज्ञान होना यह सब ज्ञान इन्द्रिय है। फिर इन इन्द्रिय के वाद ५ विषय उत्पन्न हुए स्पर्श, रस, गध, वर्ण, शब्द और इससे फिर ५ ये भूत पैदा हुए जो दृश्यमान है सबको दिखते हैं। इस तरह यह सारा जगजाल प्रकृति से उत्पन्न हुआ ऐसा जिनका सिद्धान्त है उनकीही वात यहा चल रही है। कही यह बात नहीं ग्रहण

करना है कि जब अज्ञान होने को होना है होना ही है, जब राग होनेको होता है होता ही है। अरे तो इस तरह स्वच्छता से वह अगर कर रहा है तो वह स्वभाव बन जायगा।

निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धवाद का वस्तुस्वातन्त्र्य साधन में सहयोग—

निमित्त पाये बिना यह विभाव नहीं होता है। सिद्धान्त से तो स्वभाव की सुरक्षा है। जीव स्वत स्वरसत रागादिक भावोंको करता नहीं है, किंतु उपाधि का निमित्त पाकर अपनी परिणति से रागादिक परिमनो को करता है, स्वभाव की भी रक्षा हुई और वस्तु की स्वतन्त्रता भी प्रकट हुई। वस्तु अपने ही परिणमन से परिणमता है सर्वत्र यह वस्तु की स्वतन्त्रता है। जीव पराधीन भी बनता है तो आजादी से पराधीन बनता है या पराधीनता लेकर।। पराधीनता लेकर पराधीन नहीं बनता। यहा साख्यसिद्धात कहा जा रहा है कि कर्म द्वारा ही जीव सुखी किया जाता है। उसमे आशय क्या पडा है कि कम ही सुखरूप परिणमन करता है जीव नहीं करता है। पर बुद्धि के आश्रय से पुरुष मे सुख दु ख राग आदि की बात आया करती है ऐसा साख्य सिद्धान्त है, परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी है कि अशुद्ध परिणम्य सकने का उपादान वाला जीव कर्म उपाधिका निमित्त पाकर स्वय की परिणति से ही सुखी और दु खी होता है।

कर्तृत्ववाद के भ्रम के अवसर का योग—

भैया। लोगो को कर्ता कर्म का जो भ्रम बन गया है कि कोई पदार्थ परका कर्ता है, इस भ्रमके लिए उनको मूल मे बात क्या मिली जिससे उन्होने बढकर भ्रम बना लिया? मूल मे बात निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध की मिली। उससे बढकर उन्होने भ्रमरूप बुद्धि करली कि हमने ही यह किया। एक बालक बीस हाथ दूर खडा है, दूसरा बालक दूर से ही अ गुली मटका कर या जीभ निकाल

कर चिढा रहा है तो यह दूसरा बालक दुखी हो रहा है। तो भला यह बतलाओ कि यह बच्चा जो दुखी हो रहा है सो अपनी परिणति से दुखी हो रहा है या बडे लडके की परिणति से दुखी हो रहा है? बडा लडका इसे चिढा रहा है या छोटा लडका चिढ रहा है? यह लडका चिढ रहा है बडा लडका चिढा नहीं रहा है। वह तो अपनी अंगुली मे अंगुली मटका रहा है। यह बालक विकल्प बनाकर दुखी हो रहा है।

संकेतों का आशय—

एकबार एक राजा ने यह सोचा कि हम अपनी लडकी की शादी बडे बुद्धिमान लडके से करेंगे। सो पण्डितो से कहा कि जावो बुद्धिमान लडका ढूंढ लाओ। सो कुछ पडित लोग ईर्ष्या रखते थे वे चाहते थे कि किसी मूर्ख से इसकी शादी कराई जाय। सो वे चले मूर्ख लडके की खोज मे। देखा कि एक पेडपर एक लडका चढा है और डाली के अग्रभाग पर बैठा हुआ कुल्हाडी चला रहा है। तो अब बताओ कि अगर डाली कट जायगी तो वह गिरेगा कि नहीं? गिर जायगा। सो सोचा कि इससे मूर्ख और कहा मिलेगा। कहा कि चलो तुम्हारी शादी राजपुत्री से करवायेगे। तुम वहा चुपचाप बैठना, मुंह से जरा भी न बोलना। वह चला गया सग मे। राजदरबार मे भरी सभा मे एक किनारे मूर्खदास भी बैठ गए। तो पडित लोग कहते है कि यह कवि पडित मौन व्रत रखे हैं सो संकेत में करो प्रश्नोत्तर तब लडका और लडकी के बुद्धि का परिचय मिलेगा। दोनो का परिचय हुआ। सो पण्डितो ने कहा कि पहले लडकी प्रश्न करे। तो लडकी ने खडे होकर एक अंगुली उठायी। इस आशय से कि जगत मे केवल एक ही ब्रम्ह है। तो उस मूर्ख ने सोचा कि यह कह रही है कि मैं एक आख फोड दूंगी। तो उस मूर्ख ने दो अगुली उठायीं, उसका मतलब था कि मै दोनो आखे फोड दूंगा। पडित लोग वहा अर्थ लगाने को बैठे थे क्योकि जबरदस्ती शादी करवाना था उस मूर्ख लडके के साथ। सो पडितो ने कहा कि ये महाकवीश्वर यह कह रहे है कि जगत मे केवल

एक ब्रह्म ही नहीं है साथ मे उसके माया भी है। तो ब्रह्म और माया ये दो तत्व है। फिर कहा लोगो ने कि दूसरा प्रश्न कीजिये, हमारे महा पन्डितेश्वर जी जवाब देंगे। लडकी ने ५ पाच अ गुलिया उठाई। उसका अर्थ यह था कि यह ▮/ च भूतात्मक हैं। तो उसने पाचो अ गुली देखकर समझा कि यह कहती है कि तमाचा मारूँगी। सो उसने मुट्ठी बाधकर मुक्का मारने को उठाया। उसका मतलब था कि अगर तू तमाचा मारेगी तो मैं मुक्का मारूँगा। यहसब लोगोने उसे सिखा दियाथा कि चुपरहना मुखसे बोल दिया तो पोल खुल जायगी। इसलिए जो मूर्ख आदमी है उसे सभा मे मौन व्रत लेकर बैठना चाहिये लोग उसे बुद्धिमान जानेंगे। तो लोगो ने अर्थ लगाकर कह दिया कि दूल्हा जी कहना है कि पञ्चभूत हैं तो जरूर, पर सबका मूल आधार एक अद्वैत है। तो ऐसे बचनो के भी अनेक अर्थ होते हैं पर उनमे आशय तका जता है कि इसका आशय क्या है।

विरुद्ध आशय का खण्डनः—

भैया! यह सब निमित्त दृष्टि से बोला जाय तो इनमे कोई सिद्धांत विरुद्ध बात नहीं आती। हाँ हाँ सातावेदनीय के उदय विना जीव सुखी नहीं हो सकता असातावेदनीय के उदय विना जीव दुखी नहीं हो सकता लेकिन शङ्काकार का आशय यह नहीं है। आशय उसका यह है कि प्रकृति ही सुख और दुःख रूप परिणमती है। उस परिणमन को यह जीव भ्रम से मानताहै कि मेरा परिणमन है। जीव अपरिणामी है वह परिणमता नहीं है। यह इस आशय मे पडा हुआ है। उस आशय का खण्डन किया जाता है।

आशय के ही खण्डन मण्डन की शक्यताः—

एक बार कहीं शास्त्रार्थ हुआ तो पक्ष वाले ने पक्ष रखा कि ईश्वर जगत का कर्त्ता है तब प्रतिवादी कुछ खण्डन लगा? तो यह वादी बोलता है कि पहले यहबताओ कि ईश्वर जगत का कर्त्ता है यह बात है या नहीं। अगर यह बात है

या नहीं अगर यह बात है तो खण्डन तुम कैसे कर सकते और यदि यह बात नहीं है तो खण्डन किसका तुम करते हो तो वह उत्तर देता है कि हम ईश्वर का खण्डन नहीं करते, जगत कर्ता का खण्डन नहीं करते किन्तु ईश्वर सद्भूत एक पदार्थ जगत का कर्ता है ऐसा जो तुम्हारा अभिप्राय बना है हम उस अभिप्राय का खण्डन कर रहे है। तो आशय हर एक बात मे देखा जाता है।

आशय विज्ञान में सन्मान अपमान

देहाती लोग आपस मे जब मिलते हैं बहुत दिनो मे मित्र-मित्र या साढ़ साढ़ या कोई कोई तो किसी तरह से मिलते हैं पर ऐसे भी लोग मिलते हैं कि एक दूसरे के दो चार तमाचे मारकर मिलते है। यह उनकी जुहारु होती है। न विश्वास हो तो देख लो। उनका मिलना इसी ढंग का है। कोई जमाने मे कही की सभ्यता मे विनय पूर्ण व्यवहार होता था पर जैसे जैसे समय गुजरता है। वैसे ही वैसे परिवर्तन होता रहता है। पहिले समय मे लोग विद्वानो को गुरुवो को दण्डवत् नमस्कार करते थे। दण्डवत् के मायने जैसे डंडा पडा है तो यह बिल्कुल लेटा पडा है ना? तो डंड की तरह लेट करके नमस्कार करते थे। फिर दण्डवत तो रही नहीं। घुटने टेककर सिर नवा कर नमस्कार हुआ फिर घुटने टेकना सिर नवाना दूर रहा फिर घुटने टेक कर हाथ जोड दिया। यह भी दूर हुआ तो खडे ही खडे पेड की तरह सिर झुका दिया। यह भी दूर हुआ अब मस्तक मे चार अंगुली लगाकर नमस्कार कर लिया। यह भी छूटा तो रह गया एक अंगुली का गुडमार्निंग। यह भी छूटा तो मुख से बोल दिया जय जिनेन्द्र। यह भी छूटा तो मुख से एक दूसरे ने बोल दिया बाबू जी, हां सेठ जी,। वहाँ भगवान का भी नाम छूटा, फिर और समय गुजरा तो उन्होने मुस्करा दिया। अब यह भी नौबत आ गई कि उनने गाली सुना दिया उनने सुना दिया। देख लो साढू साढू मे बहनोई साले मे कैसा नमस्कार होगा। तो इन सब परिस्थितियो मे भी आशय जिसका अच्छा है उसका बुरा नही मानते हैं और आशय अच्छा नहीं है तो बुरा माना जाता है।

आशय की शुद्धता में विरुद्ध व्यवहार से भी अविषाद

अभी बच्चा छत पर या दरवाजे जैसे स्थान पर खेलता हो जहा से गिरने की नौबत आए तो मा उसे कितनी गालिया सुनाती है, नासके मिटे तू मर न गया पैदा होते ही। ऐसी गालिया सुनकर भी बच्चा बुरा नहीं मानता है। क्योकि वह जानता है कि अम्मा ही तो हैं हमारी और कोई दूसरा आदमी थोडी सी भी बात कहदे तो वह रोने लगता है, क्यो कि वह समझता

है कि इसका आशय खोटा है। तो यहाँ आशय का ही खण्डन किया जा रहा है।

शंकाकार का मूलसाध्य

शकाकार कहता हैं कि कर्म ही जीव को सुख दु ख देता है इसमे यह आशय भरा है कि कर्म ही सुख दु ख रूपपरिणमते हैं। जीव तो अपरिणामी मूल से बात पकड लो तव यह समझ मे आयगा। इसी प्रकार कर्म ही जीव को मिथ्यात्व रूप बनाते हैं। और कर्म ही जीव को असयम रुप वनाते है। इस प्रकार यहा शकाकार जीवके समस्त परिणमनों का कर्त्ता वता रहा है। अव जीव के परिभ्रमणादि के कर्तत्व की बात भी कर्म पर लादी जा रही हैं।

कम्मेहिं भमाडिज्जइ उड्ढमहो चावि तिरियलोय च ।
कम्मेहिं चेव किज्जइ सुहासु ह जित्तिय किंचि ॥२३४॥

जीवपरिभ्रमण के कर्मकृतत्त्वाका पक्ष

कर्म को जीव भाव का कर्त्ता मानने वाले साख्यानुयायी प्रश्न कर रहे हैं। इस प्रकरण मे इतना ध्यान देना कि कर्म जीव के भाव को करते हैं। ऐसा कहने मे उपादान दृष्टि उनकी वनी है, कर्म ही जीव भाव रूप परिणमते हैं या यो कहो रागादिक रुप परिणमते हैं। उसको जीव अपना मान लेता है ऐसा आशय है शकाकार का। शकाकार अपनी नई-नई बातें रखता हुआ चला जा रहाहै कि देखो कर्म ही जीव को ऊपर नीचेभ्रमण करा रहे हैं। बोलो लिखाहै ना जैनो के ग्रन्थो मेकि आयु पूर्वी कर्म का उदय आए तो यह जीव कहीं से भी कही मरकर जन्म लेने के लिए पहु च जाता है हा लिखा तो है, तो हुआ ना ठीक कि कर्म ही जीव को भ्रमाता है ? और वडे विस्तार से भी लिखा है। इसको कहते है विग्रह गति।।

विग्रहगति में गमन पद्धति

नवीन विग्रह पाने के लिए जो गति होती है उसका नाम है विग्रहगति। विग्रह का अर्थ है शरीर। लोग अव भी किसी का यदि हृष्ट पुष्ट शरीर हुआ तो कहते हैं कि इसका विग्रह तो अच्छा है। तो नवीन विग्रह पाने के लिए जीव का जो गमन होता है उपका नाम है विग्रह गति। और जीव मरने के वाद अर्थात,शरीर छोडने के बाद नया शरीर पाने के लिए जो जाता है सो दिशाओ में जाया करता है। आकाश की श्रेणिया हैं। उन श्रेणियो के अनुसार गमन होता है। पूर्व से उत्तर जाना हो तो सीधा न जायगा। पूरव से कुछ दूर पश्चिम तक आकर फिर उत्तर को मुडेगा। पूरव से पश्चिम उत्तर

से दक्षिण ऊपर से नीचे जो सीधी आकाश श्रेणिया है उन मार्गों से गमन होता है। तो ऐसी कई जगहे है कि जहां मुडकर जीव को जाना पडता है। और ऐसे मोड इस जीव को अधिक से अधिक तीन लग सकते है तो मोडो को लेकर जो गमन होता है उसे कहते है विग्रहवती विग्रहगति। अर्थात मोडा लेकर होने वाली विग्रह गति। विग्रह वति गति मे आनुपूर्वी का उदय होता है। नीचे से ऊपर ऊपर मे नीचे कहा से कहा जीव का गमन होता है। यह जीव का स्वभाव है यो डोलते रहना। यह तो कर्म ही कराता है न। तो कर्म ही जीव को नीचे ऊंचे की दिशाओ मे सर्वत्र घुमाता है।

संसारी जीव के सूक्ष्म और स्थूल शरीर

भैया! इस जीव के साथ दो शरीर लगे है-सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर तो एक भाव छोडने के बाद भी साथ चिपटा रहता है। वह एक क्षण को भी अलग नही होता है। और जब अलग होता है तो सदा के लिए अलग होता है उस सूक्ष्म शरीर का नाम है तैजस शरीर व कार्माण शरीर औदारिक शरीर, वैक्रियक शरीर ये है स्थूल शरीर स्थूल शरीर के अलग हो जाने का नाम है मरण। यह तैजस और कार्माण शरीर क्या है? कि जो जीव के साथ लगा है कार्माण सो कर्म का पिण्ड है, कर्म और कार्माण शरीर मे इतना अन्तर है जितना कि ईंट और भींट मे ईंटें पडी हुई है और वे ही ईंटें सिलसिले वार ढाचे के रूप मे जड दी जायें तो उसका नाम हो गया भींट तो कर्म है, कर्मों की द्रष्टि से वे कर्म है समूह है, इकट्ठा है. वहुत हैं, संग्रह है पर उन कर्मों से परे हुए शरीर के अनुसार या फंसे हुए जीव के अनुसार उनका ढाचा वन जाना यह है कार्मण शरीर और कार्माण क्या सभी शरीरो मे तेज देने वाला होता है तैजस शरीर।

सूक्ष्म शरीर की अप्रतिघातिता

दोनो सूक्ष्म शरीर वज्र से भी नहीं अटकते। वडा कांच का महल भी वना दिया जाए जहा से रंच हवा न आए और जाने कि मरण हार है। उसको उसके अन्दर रख दिया जाए। फिर देखो कि यह जीव कहा से जाता है। तो काच फूटेगा नहीं और यह जीव चला जायेगा। और मानलो कदाचित काच फूट जाय तो जीव के टक्कर मे काच नहीं फूटा किन्तु हवा रुकी है तो उस प्राकृतिकता से फूट जाय, सूक्ष्म शरीर किसी से नहीं रुकता। सूक्ष्म शरीर सहित यह जीव जाता है।

पूर्व देहत्याग व नवीन देहधारण अन्तरकाल

मरने के बाद तुरन्त ही यह जीव जन्म स्थान पर पहुंच जाता है। अधिक से अधिक देर लगेगी तो तीन समय की लगेगी। चौथेसमय में अवश्य पहुंच जायगा। जीव का जन्म स्थान पर पहुंचना किसी तिलक वाले व्यक्ति के आधीन नहीं है कि जब तक १० लोगो को जिमा न दिया जाय तब तक जीव चलता रहेगा और जब 10 आदमियो को जिमा दिया जायगा। तब जीव जन्म स्थान पर फिट हो जायेगा ऐसा नहीं है लोग परीक्षा करने के लिए कि आखिर यह पैदा कहा होता है जीव अथवा ये दद्दा बब्बा, सो चूल्हे की राख छोड देते है और सुबह देखते है कि राख मे मे चिन्ह कौन सा बना है, जिससे जान जाए कि यह कहा पैदा हुआ है। डुकरिया पुराण की कथा है। डुकरिया को लाज लिहाज नही रहती, जहा चाहे बोला करती है नई बहुओ को उनका बकना नहीं सुहाता सो वे डुकरिया पुराण कहा करती है। सो वे डुकरिया सुबह राख मे देखती हैं कि कौन सा चिन्ह बना है।

एक सूक्ष्म दर्शी यत्र होता है ना। उसमे कुछ भी देखा तो हलता डुलता हुआ दिखता है तो कह बैठते हैं कि इसमे कीडे है। यद्यपि कीडे सब दिखते हैं पर ऐसा नहीं है कि उसमे यह न दिखे कि चोजे न हलती हो। लोक मे बडे सूक्ष्म-सूक्ष्म अजीव ढेर भी पडे है पतले-पतले कूडा करकट भी इधर उधर फिरते रहते हैं। जहा देखते है कि साफ है वहा उस पोल में भी बहुत सा कूड़ाकरकट फिर रहा है पर इतना पतला है कि मालूम नहीं देता। कहीं जरा सा छेद हो सूर्य की किरणो का आगमन हो तो उस जगह किलबिलाते हुए दीख जायेंगे। तो फट कह देते हैं कि देखो यहा पर बहुत से कीडे फिर रहे है। कीडे होते भी है और नहीं भी होते है। वे जीव पुद्गल हो फिर रहे हैं. सूक्ष्म मैटर तो डोलते है ना तो जो डोले उसे जीव मान लिया।

पुनर्भव विज्ञान की अमरूढ़ियां

यो ही उस राख मे चूहा, छिपकली, झींगुर निकल गया हो, तो उससे बने हुए चिन्ह को देखकर कह देते है कि वह जीव अमुक हुआ है। ये बातें झूठ है। जीव तो मरने के बाद ही तुरन्त जन्म ले लेता है, तेरई खाने पीने का अधिकार

तो मुनियोंको था अब उसके एवज मे उन्हे कौन पूछता। बिरादरी के लोगोको और लोगो को ही खिलापिला देंगे १२ दिन तक मुनियों को आहार देने का अधिकार नहीं रहता सो १३ वें दिन बडी खुशी खुशी से चौका लगाकर आहार देने के लिए लोग खडे रहते थे। इसलिए कि भाई आज पात्रदान करने का मौका मिला, १२ दिन मौका नहीं मिला। तेरहवें दिन आहार कराने का मौका मिला है। कहीं ऐसा नहीं है कि जबतक पंगत न करे तबतक जीव घूमता रहेगा।

विग्रह गति के उभयभव का सन्धिपना—

जीव आनु-पूर्वी नामक कर्म के उदय के बिना ऊपर नीचे यत्र तत्र नहीं डोलता। इससे ज्ञात होता है कि कर्म ही जीवको यहा वहा घुमाता रहता है, कोई घोडा है और उसे मरकर बनना है मनुष्य तो उसके आगे के भव से सम्बन्धित मनुष्य गत्यानुपूर्वी का उदय आगया उस मनुष्यगत्यानुपूर्वी के उदय मे कहलाएगा तो मनुष्य, रास्ते मे विग्रह गति मे और आकार रहेगा उस घोडे का। यह तबादले का समय है। पहिला शरीर छूटा और नया शरीर मिलेगा, उसके बीच की जो विग्रह गति है उस विग्रहगति मे दोनो के कुछ न कुछ समय की बात रहती है याने उदय तो आगेवाला रहा और आकार पहिले वाला रहा।

उभयभव सन्ध्या का एक दृष्टान्त—

जैसे जब कोई पुराना अफसर नये अफसर को चाज देता है तो चार्ज देते समय दोनो अफसरो का कन्ट्रोल रहता है। चार्ज देने पर पुराने अफसर का कुछ नहीं रहता। योही नए स्थान पर पहुँचने पर पुराने का कुछ नहीं रहता है और देखो जब चार्ज सम्हाला जा रहा है तो लोगो की दृष्टि नए अफसर पर ज्यादा रहती है और वह पुराना अफसर जो बहुत दिनतक रहा उससे लोगो की दृष्टि हट जाती है क्योकि अब काम पड़ेगा इस नए नवाब साहब से। तो इसी प्रकार विग्रह गति मे प्रमुखता रहती है नवीन गति की। नवीन गति का उदय नवीन आयुका उदय और मनुष्य गत्यानुपूर्वी नामवाली आयुपूर्वी का उदय। केवल पुराने का इतना अभी रोब है कि जिस शरीर से आया था उस शरीर के आकार जीव के प्रदेश रहते हैं सो यह जीव जितना भ्रमण कर रहा है यह सब कर्म की प्रेरणा से कर रहा है। कर्म ही करा रहे हैं, ऐसा साख्यानुयायी सिद्धात की बात चल रही है।

दो द्रव्यों में परस्पर कर्तृकर्मत्व का अभाव–

जैसे हाथ मे घडी उठायी और दूसरी जगह धरदी. देख रहे हो ना, यह बात ठीक है ना। हाथने ही घडी उठायी और दूसरी जगह धरदी। लगता तो है ऐसा कि हाथने एक जगह से घडी को उठाकर दूसरी जगह पर धरदी, पर इसमे कुछ विचार करो, क्या यहाँ घडी मे जो कुछ हुआ है परिणमन क्रिया जाने आने की बात क्या इसे हाथने किया है, अर्थात् क्या यह हाथका परिणमन है सो तो नहीं है, क्योंकि यदि हाथ का ही परिणमन घडी का परिणमन बने तो दो द्रव्य नही रह सकते। तब क्या है। हाथ वहा निमित्तमात्र है और हाथ की क्रिया का निमित्त पाकर इस घडी मे इसकी क्रियागति हुई। अपने आपने स्वरूपास्तित्व को निरखो तो हाथने हाथमे काम किया। घडी ने घडी मे काम किया परन्तु इस तरह की क्रिया की परिणति से परिणत हाथ का निमित्त मात्र पाकर यहा यह परिणमन हुआ। वात तो ऐसी ही थी कि कर्म के उदय का निमित्त पाकर जीव मे जीव के विभाव परिणमन होते है पर इसे निमित्त नैमत्तिक सम्बन्ध मे न मानकर उपादान उपादेय सम्बन्ध स्वीकार करके यह जिज्ञासा चल रही है कि लो यह कम ही तो जोव को उल्टा सीधा करके यहाँ वहा फेंक दिया।

शुभ अशुभ परिणाम की कर्मकृतता का पक्ष—

अच्छा और भी आगे देखो जितना शुभ और अशुभ किया जा रहा है वह कर्म के द्वारा ही तो किया जारहा है। क्या शुभ और अशुभराग के उदय बिना कोई शुभ और अशुभ परिणाम होता है। यदि शुभ राग प्रकृति के बिना शुभ परिणाम होने लगे तो सिद्ध मे भी होने लगे। अशुभ राग के बिना यदि अशुभ परिणाम होने लगे तो सिद्ध मे भी होने लगे। ऐसे गुणो का भी हम क्या करें जिसमे सन्देह बना रहेगा, न जाने कब विभाव उठ बैठेगा, क्योकि उपाधि उदय निमित्त तो कुछ रहा ही नहीं। यह जीव ही कर बैठता है तो जब चाहे शका रहेगी कि न जाने कब विभाव परिणमन कर बैठेगा इसलिए यह बात मानना चाहिए कि कर्म ही जीव को शुभ परिणाम कराते और कर्म ही जीव का अशुभ परिणाम कराते हैं। देखो बोलने मे कुछ हर्ज नहीं मगर यह आशय उपादान उपादेय का है।

विभाव के कर्मकृतत्व में श्रुति का प्रमाण—

शंकाकार कह रहा है कि इतना ही नहीं, अन्य प्रकरण भी देखिए। जैसे इस जीव का अपने किसी विभाव रूप-परिणमन हो रहा हो उनकी जुदी जुदी प्रकृतियाँ हैं. आगम मे बताया गया है १४८ प्रकृतियो का नाम। उसका मतलब ही क्या है। वेही सब कराती हैं इस कारण इतना तो निश्चय हो रहा है कि कर्म ही सब करता है।

जम्हा कम्मं कुव्वइ कम्मं देइ हरत्तिजं किंचि।
तम्हाउसव्वजीवा अकारयाहुँति आवण्णा ॥ ३३५ ॥

विभाव के कर्मकृतत्व का निष्कर्ष—

जिस कारण कर्म ही कर्ता है, कर्म ही देता है, कर्म ही हरता है, तो हम तो यह जानते है कि इस कारण समस्त जीव अकारक ही हैं, अकर्ता हैं। देखा ना, किसीको गर्मी प्रकृति की जो बीमारी हुई तो उसने ठंडी तेज दवा पीली, सो लो, अब ठडी का रोग हो गया। आत्मा कर्ता है, इस बात को मिटाने के लिए निमत्त रूप कर्म की बात बतायी गई थी। अब उसका इतना अधिक आलम्बन कर गया कोई कि आत्मा को अपरिणामी देखने की नौबत आ गई। अब आत्मा अकारक है। एक कोई देहाती पटेल था, तो लडके की बारात ले गया लडकी के दरवाजे। टीका करने लगा लडकी बाला तो लडकी का बाप दूल्हा का टीका ११ रु० देकर करने लगा तब लडके का बाप बोलता है कि इतना नीचा गिराकर लडके का टीका न होगा। टीका होगा ५०१ रु० का। आपस मे दोनो मे लडाई बढ गई। तब बापने कहा देखो या तो टीका होगा ५०१ रु० का नहीं तो तुम्हारे ही सामने दूल्हा को आग मे जलाये देते है। अरे यह क्या बात है। देखो आत्मा को सीधे-सीधे कर्ता मानते जाओ और नहीं मानते हो तो आत्मा को अपरिणामी मान लेते है। जो कुछ करते हैं सो कर्म करते है।

विरुद्ध वृत्ति में अध्यात्मवाद का अभाव—

एक कोई पण्डित जी अध्यात्मवाद एक शिष्य को पढाते थे। पण्डित जी मे आदत मिठाई खाने की ज्यादा थी, उन्हें रसगुल्ला बहुत अच्छे लगते थे। तो जिस चाहे दूकान पर खालें। तो शिष्य कहे कि महाराज यह क्या करते हो ? तो वह कहे कि हम कुछ नहीं करते है, सब कुछ कर्म ही करते हैं। एक दिन ऐसी दूकान पर पहुँच गया कि जहा खराब चीजें भी बिकती थीं, मास वगैरह

और मिठाई भी बिकती थी। उसी दूकान पर खडे-खडे वह खाने लगे। पंडित जी, तो शिष्य ने क्या किया कि उसके गाल मे एक तमाचा मारा। गुरू कहता है कि यह क्या कर रहे हो ? कहता है कि महाराज कर क्या रहा हूँ, आप ये मास भरे रसगुल्ले क्यो खा रहे है ? तो वह कहता है कि हम नही खाते हैं। ये तो पुद्गल पुद्गल को खा रहे हैं। महाराज फिर आप मुझे क्यो टोकते हो। यह हाथ और आपका गाल भी पुद्गल पुद्गल ही है। पुद्गल-पुद्गल लडे हमने तुम्हे नहीं मारा। तब गुरुजी बोले कि तुमने हमारी आखें खोलदीं। होता है ऐसा।

आत्मा व परमात्मा का व्यावहारिक अवबोध—

एक राजा था, उसे आत्मा व परमात्मा कुछ भी नहीं मालूम था। एक दिन वह घोडे पर जा रहा था, रास्ते मे मन्त्री का घर मिला। मन्त्री से कहा कि हमे परमात्मा व आत्मा समझाइए। मन्त्री ने कहा कि घोडे से उतरो तब एक आध घटे तक अच्छी तरह समझाए। बोला कि हमारे पास इतना टाइम नहीं है, हमे तो पाच मिनट मे ही समझा दो। मन्त्री ने कहा कि अच्छा पाँच मिनट नही, हम एक मिनट म ही समझा देंगे पर हमारी खता माफ हो। अच्छा माफ। मन्त्री ने राजा का कोडा छीनकर ५-७ राजा मे जड दिये। राजा बोला अरे रे रे भगवान। मन्त्री ने समझाया कि देखो जो अरे रे रे कहता है वह है आत्मा। और जिसे भगवान कहा है वह है परमात्मा।

जीवभाव की कर्मकृतता में आपत्ति—

यहा यह सांख्यानुयायी सिद्ध कर रहा है कि जीव अकारक है, अथवा इसीका समाधान इसमे भरा हुआ हैं कि देखो भाई यदि तुम ऐसा मानते हो कि कर्म ही सब कुछ करते हैं तो फिर जीव अपरिणामी बन जायगा और जिसमे कुछ भी परिणमन नही होता है वह असत् होता है। आत्मा का फिर कुछ सत्व ही नहीं रह गया, इस कारण तुम यह जानो कि कर्म तो वहा निमित्तमात्र है, परिणमने वाला विभावो से यह जीव है। यह बात आगे कहेगे। अभी तो यह बताया जा रहा है कि इस सिद्धातं मे जीव अकारक बन जायगा अपरिणामी बन जायगा, कुछ परिणमन ही नहीं करता।

अक्रियता का व्यवहार में असुहावनापन—

अभी किसी आदमी से कुछ बात कहो और वह मौनसा बैठा रहे क्यो जी वहा चलोगे ? वह चुप बैठा रहे। क्यो जा ऐसा करना है ना ? वह चुप

बैठा रहे, इसी तरह को दसो बातें आप कहे वह चुप बैठा है जरा सा भी न बोले तो आपका गुस्सा आ जायगा। आप कहीं जा रहे हो, कोई सिपाही मिल जाय और आप कहे कि मेरा फलानी जगह को रास्ता कहा से गया। और वह कुछ न सुने, न बोले तो आप उसे मन ही मन गाली देकर जाते हैं कि देखो हमारा ही नौकर और जरासा बताने मे भी आलस्य कर रहा है, वह आपको सुहाता नहीं है। ऐसे ही कर्मठ पुरुष सबको सुहाता है जो पुरुष आलस्य करता है वह नहीं सुहाता है।

परिणमयिता में ही सत्व की सम्भवता—

जो सदा परिणमता रहे वह सद्भूत होता है अन्यथा सत् भी नहीं रह सकता है। तो कर्म ही जीव को अज्ञानी बनावे ज्ञानी बनावे जगावे सुलावे दुखी करे, सुखी करे, उल्लू बनादे मयमो बनादे, जहा चाहे भ्रमण करादे, शुभ अशुभ परिणाम करादे, इतना यदि मन्तव्य है तो फिर यह बतलाओ कि आत्मा ने किया क्या ? यह सब तो किया कर्मो ने। तो इस सिद्धात मे आत्मा अकारक बन जायगा, इस आपत्ति को देकर और वर्णन करेंगे।

यहां साख्य सिद्धाती अपने ही पक्ष का निरूपण करता जा रहा है और जैन आगम मे और जैन सिद्धांत मे जो शब्द कहे है उनके द्वारा सिद्ध करता जा रहा है।

पुरिसित्थियाहिलासी इत्थीकम्मं च पुरिसमहि नसइ।
ऐसा आयरियपरपरागया एरिसी दु सुई॥ ३३६

मैथुन भाव की कर्मकृतता का पक्ष—

आचार्यो की परिपाटी से चले आए हुए आगम मे लिखा है कि पुरुष वेदनामक कर्म स्त्री की अभिलाषा करते है और स्त्री वेदनामक कर्म पुरुष को चाहता है। इससे इतने उपदेश मे तो यह आया कि कोई भी जीव व्यभिचारी नहीं है, कर्म ने ही स्त्री को चाहा, कर्मने ही पुरुष को चाहा, कर्म ही तो सब अभिलाषा किया करते है। अब दोनो कहा उतर रहे है ये शकाकार। एक कथानक मे आया है कि एक ब्रह्म एकातवादी किसी महिला को पढाया करते थे। तो पढाते-पढाते कुछ समय बाद उसने कुछ स्पर्श किया। सो वह कहती है कि क्या कर रहे हो। पाठक बोला हम परीक्षा कर रहे है। स्त्री ने एक तमाचा दिया। कहा तेरी वह परीक्षा है तो हमने तेरी परीक्षा करली यहाँ साख्य सिद्धाती कह रहा है कि देखो तुम्हारे आगम मे कहा गया है ना पुरुषवेद नामक कर्म किसे कहते है जो स्त्री को अभिलाषा उत्पन्न करे। तो

स्त्री को चाहने वाला कौन हुआ ? कर्म। और पुरुषको चाहनेवाला कौन हुआ? कर्म। तब फिर जीव कोई अब्रह्मचारी ही नहीं।

मैथुन भाव की कर्मकृतता पर आपत्ति—

ये शब्द कुछ समाधान रूप भी हैं और शंकारूप भी हैं। समाधान रूप तो यों हैं कि फिर ऐसी आपत्ति आ जाय कि ये मानने वाले जीव फिर कोई अब्रह्मचारी ही न रहेंगे। चीज क्या चल रही है उसको न पकडोगे तो प्रकरण समझमें न आयगा। कर्म निमित्त है इसका खण्डन रंच नहीं है। पुरुषवेद नामक कर्म के उदय का निमित्त पाकर जीव आने में स्त्री की अभिलाषा रूप परिणमन करता है पर शंकाकार का तो यह मतव्य है कि जीव तो अपरिणामी ही है और जो कुछ करते हैं वे सब कर्म करते हैं।

देह की अपवित्रता और व्यामोही का व्यामोह—

भैया! जगत मे दुःख केवल खोटे परिणामो का है। जीवो को क्लेश और कुछ नहीं लगा है। खोटे परिणामो का ही क्लेश है। देखो इस प्रसग मे शरीर भी अच्छा मिला है मनुष्य का सब से ऊंचा अंग माना गया है, यह मस्तक, यह गोलमटोल कदुआ सा जो रखा है, यह सब से ऊंचा माना गया है और सबसे ज्यादा मैल इतने ही अङ्ग मे भरे हैं। कानका कनेऊ आंख का कीचड, नाक की नाक, मुंह का थूक, कण्ठ का कफ, खून, मास मज्जा ये सब इसमे भरे हैं। और जरा सा कोई फोडा फुन्सी हो जाय तो भीतर की पोल सामने आ जाती है। पीव निकले, खून निकले, और और मैल निकले। अभी थोडा सा पसीना आ जाय तो यह पसीना ही रुचिकर नहीं होता है। ऐसी अपवित्र चीजें शुरू से ऊपर तक इस शरीर मे भरी हुई है। जिस पर जरा सी चाम चादर मढी है और उस पर कुछ रंग विरंग आगये है इतने ही मात्र से यह सारी अपवित्रता ढकी हुई है, जिसे शरीर के भीतर की अशुचिका पता है उन्हे शरीर को देखकर रति नहीं होती है और जो मोही पुरुष हैं वे अन्दर के अपवित्र असुचि पदार्थो पर दृष्टि ही नहीं रखते। यह जीव खुद विभाव परिणत होकर व्यभिचारी बनता है, दुष्ट बनता है किन्तु इस ऐब को न मान कर जो यह कथन है कि पुरुष वेदनामक कर्म स्त्री की अभिलाषा करता है और स्त्री वेदनामक कर्म पुरुष की अभिलाषा करता है सो इसमे शंकाकार क्या निश्चय करता है।

तम्हाण कोवि जीवो अबभचारो उ अम्ह उवदेसे।
जम्हाकम्म चेव हि कम्म अहिलसदि इदि भणियं॥ ३३७॥

जीव के अपरिणायितृत्व पर आपत्ति —

जब कर्म भी अभिलाषा करता तब हमारे सिद्धान्त मे कोई जीव अब्रह्मचारी नहीं है ऐसा शकाकार जीव को एकातत अपरिणामी सिद्ध कर रहा है। जीव स्वरूप निश्चल है। ऐसा निश्चल है कि उसमे कोई तरंग नहीं उठती। सारा नृत्य यह प्रकृति का हो रहा है पर जैन सिद्धात तो प्रत्येक सत को परिणमता हुआ मानता है यदि आत्मा विभाव परिणाम नहीं करता, शुभ अशुभ परिणाम नहीं करता, प्रकृति ही सब कुछ करती तो आत्मा ने क्या किया ? कुछ नहीं किया। यदि आत्मा ने कुछ नहीं किया तो अपरिणामी हुआ और जो अपरिणामी है वे सब असत् है। कर्म के उदय से अभिलाषा तो होती है पर जीव मे अभिलाषा होती है, कर्म ही अभिलाषा नहीं करते। कर्म जड है, ऐसे चिदाभास की परिणति कर्म मे नहीं होती। लो यहा कुछ नहीं किया जाता इस पर आपत्ति आ रही है और घर मे भी कुछ न करने पर लडाई होती है, हम ज्यादा काम करती हैं, यह बैठी रहती है ऐसी लडाइया होती है। यहाँ यह बता रहे हैं कि यदि कुछ काम न करे तो पदार्थ का विनाश हो जाय आगे यह सांख्यानुयायी कह रहा है।

> जम्हा घाएइ पर परेण घाइज्जए य सा पयडी।
> एएणच्छेण किर भण्णइ पर घायणामिन्ति ॥ १३८ ॥

हिंसा की कर्मकृतता का पक्ष —

शङ्काकार कह रहा हैं कि जिस कारण से पर जीव के द्वारा पर को मारा जाता है तो वह परघात नामक प्रकृति है। जो परजीव का घात करे सो परघात है, इस तरह तो हम जानते हैं कि प्रकृति ने ही हिंसा की, जीव हिंसा नहीं करता जीव को हिसा नहीं लगती। जीव तो चैतन्यस्वरूप है। अच्छी मनकी बात कही जा रही है जो साधारण जनोको बडी अच्छी लगे, पर मनमाफिक तो बात होती नहीं। मन तो ऐसा चाहता है कि कर्म हो को हिंसा लगे, कर्म ही खराब हो। हम सदा शुद्ध ही रहे किन्तु ऐसा होता तो नहीं। परघात नामक प्रकृति का उदय होने पर यह जीव ऐसे अंग पाता है कि जो दूसरे जीव के घात मे सहकारी होता है। जैसे सिंह के नख दांत, कुत्ता के दात। सो सब परघात प्रकृति के काम हैं।

उपघातकी प्रकृति का उदाहरण—

जैसे उपघात प्रकृति के उदय में अपने आपके ही अंग ऐसे उत्पन्न होते है कि जिससे खुद को बाधा होती है। जैसे बहुत बडा लम्बा चौडा पेट हो जाय

तो खुद को बाधा होती है कि नहीं ? जिस भैंस के सींग लम्बे हैं उस जहा मुंह फेरा कि सींग पट्ट पेट पे लग जाते है। भैंस के सींग अच्छे तो नहीं लगते मगर किसी किसी भैंस के सींग अच्छे होते हैं। जैसे पंजाबी भैंस के सींग अच्छे होते है।

विचार कर भी अशुभ का करना क्या ?

एक सेठ जी थे सो सवेरे ७ बजे रोज अपने घर के चबूतरे पर बैठकर दातुन करते थे। दातुन करने मे उन्हे एक घण्टा लगता था, ७ बजे रोज वहा से गाय भैंस निकले। एक भैंस को सींग बडा अच्छा थी, गोलमटोल अच्छी बढिया। जैसे बरसात मे बडी सिजाई हो जाता है तो वह बिराट जाती है ऐसो बढिया ऐंठी हुई सींग थी। वह दातुन करता जाय और सोचता जाय कि ऐसी सोग यदि हमारे होती तो हम भी खूब अच्छे लगते। ७ बजे रोज दातुन करने बैठे रोज वही भैंस निकले सो उसके सींग को देखकर फिर सोचे ऐसी भावना करते-करते ६ माह हो गये, अब इनको सींगो को अपने सिरमे लगा लेना चाहिए, ऐसा सोचकर उसने अपने सिरको उस भैंस की सींगमे लगा दिया सींग ने अपना सर ऊचा उठा दिया सो वह उसके गले मे लटक गया। इसी तरह से टर्राती हुए भैंस एक फर्लाङ्ग तक उसे ले गई। उसके कहीं हाथ टूटा, कही पैर टूटा तो कहीं सिर फटा। वह हश्र देखकर गाव के तमाम लोग जुड आए। पूछा कि सेठ जी आपने यह क्या कर डाला ? बिना विचारे ऐसा काम नही करना चाहिये। सेठ जी कहते हैं कि भया विचार तो हमने खूब किया, ६ माह तक बडी गम्भीर दृष्टि से विचार करता रहा। ६ माह तक खूब विचार करने के बाद मैंने सोचा कि आज यह काम कर डालना चाहिये। सो आज कर डाला। गाव के लोगो ने कहा कि ऐसी बात ६ माह तक विचारो चाहे जिन्दगी भर विचारो, खोटी बात तो खोटी ही रहती है।

मोह की सर्वत्र कटुकता—

लोग कहते हैं कि भैया तुम बहुत दन्द मे पड गए। तुम बिना विचारे बडे मोह मे फस गए अरे कहाँ बिना विचारे फस गये १०, २० वर्ष तो खूब विचार किया अरे १०, २० वर्ष ही क्या चिरकाल से खूब विचार किया और अबतक उसी मे ही पगे हुए जीव चल रहे हैं।

प्रकृति कादेहनिर्वृत्ति मे निमित्त नमित्तिक सम्बन्ध—

उपघात नामक कर्म का उदय है सो किसी-किसी का एक पैर हाथी के पैर जैसा हो जाता है। जो बिहार प्रात मे बादीली जगह मे रहते हैं उनका

एक-एक पैर हाथी के पैर जैसा मोटा रहता है। उनके चलने में तकलीफ होती है। वह उपघात नामक कर्म का उदय है। भाई बूढे का बुरा न मानो। (बूढे और बच्चे बराबर होते है। जैसे बच्चे के दात नहीं वैसे बूढे के दात नहीं) और अपने शरीर मे जो पित्त कफ आदि हैं ये भी उपघात नामक कर्म के उदय से होते है। जब ये कुपित हो जाते है तो विकार हो जाता है, सिर दर्द हो जाता है तो उपघात नामक कर्म के उदय से अपना ही अंग ऐसा बन जाय जो अपने को बाधा करने मे भी निमित्त बने और परघात नामक कर्म के उदय से अपना वह अंग ऐसा हो जाय कि दूसरे का घात करने के निमित्त बने यह है शरीर के अंग का और नाम कर्म के उदय का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध।

अपनी करनी अपनी भरनी—

यहा ऐसा नहीं जानना कि कर्म ने ही दूसरे को मारा सो हिंसक तो कर्म हुआ। हम तो हिंसक नहीं हैं। जैसे साई बाबा होते है ना, तो उन्हे २ टका मिलते है, और वे छुरी चलाते है। तो मालिक कहता है कि हमने तो छुरा नहीं चलायी, साई बाबा ने चलाई है। तो साई कहता है कि हमे तो खुदा ने भेजा है उनका नाम लेकर हम छुरी चला देते है, हमे काहे हिंसा लगे। बहाने कितने ही ढूढ लिये जाते है। जैसे जैनियो ने एक बहाना ढूढा है, धर्मात्मा भी बने रहे और बालबच्चो का सब काम भी सफाई के साथ करते रहे। क्या बहाना है? भाई चारित्र मोह का उदय है। सम्यग्दर्शन होता सही है और निश्चय श्रुतकेवली ने बनाया है कि जो निश्चयत शुद्ध आत्मा को जाने सो निश्चय ही केवली है। दूसरी बात यह है कि छोटे-छोटे बालबच्चे है, इन्हे छोड दे तो फिर उनकी हिंसा का पाप तो होता है। सो उनकी दया भी करनी पडती है। वह अपना प्रधान कर्तव्य है, दीक्षा तो बाद की चीज है। और चारित्र मोह का उदय उसके कहा जाय जो घरमे रहते हुए भी घरकी बातो को व्यर्थ मानता है, और उसमे रति नही मानता है नहीं तो दर्शन मोहनीय सीधा कहना चाहिए। यहा जिज्ञासु कह रहा है कि परघात नाम प्रकृति घात करती है इससे हम यह निर्णय करते है कि प्रकृति ही हिंसक है।

> तम्हाण कोवि जीवो घघाअयो अत्थिअह्म उपदेसे।
> जम्हा कम्म चेवहि कम्म घाएदि इदि भणिय ॥ ३३९ ॥

प्रकृति कर्तत्व का निष्कर्ष—

इसलिए कोई भी जीव हमारी दृष्टि मे घात करनेवाला नहीं है, हिंसक नहीं है। हिंसक है कर्म प्रकृति, क्योकि कर्म ने ही कर्म घाता है, जहा यह कह

रहे है कि कर्म हिंसा करता है और यह कह दे कि जीव का घात करता है। बात तो नहीं बनेगी क्योकि जीव को अपरिणामी रख रहा है यहा शकाकार। तो कर्म ने कर्म को मारा इस कारण हम यह जानते है कि जीव हिंसक नहीं होता। इस तरह सांख्यानुयायी शिष्य शका रूप मे अपना पूर्व पक्ष रख रहा है। हम तो जानते है कि आत्मा अकर्ता ही है।

पूर्वापरविरुद्ध तत्वों का भी स्याद्वाद मे निर्णय—

भैया ! इससे पहिले क्या बात आई थी कि आत्मा कर्ता ही है। जैसे लौकिक जन मानते है कि कोई प्रभु इस सारे विश्व का कर्ता है,जीव नहीं करता है। ऐसा ही तुमने माना था कि सारे विश्व का यह आत्मा कर्ता ही है। तो उसके एवज मे यह शिष्य कहता है कि जीव तो अकर्ता ही है, कुछ करने वाला नहीं है. इस सबको प्रकृति करती है। सो जीव अकर्ता भी है, इस अपरिणामी भी सिद्ध किया है, किन्तु स्याद्वाद का सहारा लिए बिना कोई झगडा नहीं निपटता, शाति नहीं मिलती। इस प्रसग मे यदि यह कहा जाय कि आत्मा कर्ता ही है तो दूषण आता है। यह कहा जाय कि आत्मा अकर्ता ही है तो दूषण आता है और पर उपाधि का निमित्त पाकर आत्मा विभाव परिणमन का कर्ता होता है। अत आत्मा कथञ्चित कर्ता है इसमे मार्ग मिलता है और कथञ्चित अकर्ता है।

स्याद्वाद के स्वरूप के अवगम का एक उदाहरण—

बनारस के एक ब्राह्मण थे उन्हे कुछ जैन विद्यार्थियो को जैन दर्शन पढाने का मौका मिला उसे स्याद्वाद दर्शन मे बडी श्रद्धा हो गई। कुछ लोगो ने यह कहा कि जैनियो के मन्दिर मे न जाना चाहिए, न जैनियो के शास्त्र पढना चाहिए। तो उनका यह कहना था कि आपका कहना बिल्कुल ठीक है। जैनियो के मन्दिर मे न जाना चाहिए क्योकि एक बार भी आजायँगे और प्रभु की इस शांत मुद्रा को निरखेंगे तो फिर वहीं रह जायेगे। या जैन दर्शन के ग्रथो को यदि देखेंगे जिनमे स्वरूप का वर्णन है मन गढत कथायें नहीं है, चरित्र और गुणका वर्णन है। तो पढने के बाद वे उसी के श्रद्धालु बन जायेंगे इसलिए उनके छोर ही न जाना चाहिए तो अपना बचाव करने के लिए वे ठीक रहते है। हा तो काशी के इन पडितजी की प्रतिभा समझाने की बतावेंगे।

धर्म की श्रद्धा व धुन—

एक भाई मेरठ मे मिले थे सत्यदेव उनका नाम था। वे आर्यसमाज मे

वहुत दिनो तक रहे। एक दिन मेरे पास आए। वडे विद्वान थे वे और दो तीन दिन रहने के वाद वोले कि हमको तो जैन दर्शन से वडी श्रद्धा है और साथही यह भी कहा कि में आपको गुरू मानकर मैं गुप्त ही रहकर कहीं भी बिचरूंगा और इस जैन शासन की सेवा करूंगा। वहाँ से जाने के बाद हमे केवल एकबार वह मिला जबलपुर मे, अबतक नहीं मिले किन्तु खवर जरूर मिलती रहती है कि वह अपने धर्म मे अवतक अडिग है। एक खबर हमे देहरादून मे मिलो थी। एक छपा हुआ वडा पर्चा आया जिसमे कुछ समाचार प्रकाशित था, राजस्थान मे एक जैनियों के खिलाफ वडो सभा की वनायी हुई है, वडी प्रसिद्ध है, राजस्थान वाले सव जानते है। तो उस पत्र मे यह आया कि कमेटी बालो ने कमेटी तोडदी है कहने से। और भी विशेष धर्म प्रभावना की बातें लिखी थीं, और नीचे हमारा नाम देकर लिखा था, कुछ कृतज्ञता जाहिर करके कि उनके ही प्रसाद से हमने ऐसा किया है। तव हमने समझा कि यह वही सत्यदेव है जो मेरठ मे मिले थे। तो धुनि की बात है, किसी को ऐसी धुनि हो, जिसे कहते है हार्दिक रुचि लगाना नहीं चाहते और अपने अन्तर मे धर्म श्रद्धा वरावर अडिग बनाये रहता है।

ब्राह्मण पण्डित की स्याद्वादप्ररूपक एक सुगम सूझ–

तो यह ब्राह्मण पडित जैन छात्रो को पढाता था, पढाने के बाद उसकी श्रद्धा अडिग हो गई कि वस्तु का अडिग निर्णय स्याद्वाद के द्वारा ही होता है और उसने सब साथियो से यह बात कही कि स्याद्वाद ही एक ऐसा उपाय है कि वस्तु के सही स्वरूप पर ले जाता है. एक आदमी और बोला कि हमे पंडित जी जरा आप स्याद्वाद वतलावे तो सही। अच्छा भाई वैठो घटा डेढ घण्टा मे समझा देगे। कहा कि इतनी फुरसत नहीं है हमे १० मिनट मे समझा दो। कहा कि अच्छा १० मिनट मे नहीं हम सवा मिनट मे समझा देंगे अच्छा वैठो। बठा‍ल दिया। उस पण्डित के पास चार फोटो रखीं थी उसके घर की एक पीछे से चित्र लिया हुआ एक आगे से चित्र लिया हुआ एक बगल से और एक वगल से। चार फोटो क्रम से दिखाया। पूछा कि ये किसकी फोटो है। कहा कि ये आपके घरकी फोटो हैं जो कि पीछे से खींची गयी है। अच्छा यह भी आपके घर की है पूरब की तरफ से खीचो गयी है। इसी तरह वता दिया कि यह उत्तर दिशा से और यह दक्षिण दिशा से खींची फोटो है। तो पण्डितजी ने कहा कि बस यही तो स्याद्वाद है। वस्तु मे जो धर्म की निरूपणता होती है वह सब अपेक्षा से होती है। द्रव्य अपेक्षा से नित्य, पर्याय अपेक्षा से अनित्य, इस प्रकार सब वर्णन होता है। वतलाओ स्याद्वाद के बिना व्यवहार मे भी गुजारा होता

है क्या ? व्यवहार मे भी गुजारा नही होता , यह सब निर्णय आगे किया जायगा ।

एव स खुवएस जे उ परविंति एरिस ममणा ।
तेसिं पयडी कुव्वइ अप्पाय अकारया मव्वे ॥ ३४० ॥

आत्मा के अपरिणामित्वपर प्रसक्ति—

कर्म ही रागद्वेष आदि सब कुछ करते हैं ऐसी जो सांख्य उपदेश की निरूपणा करते हैं उनके मत मे प्रकृति ही सब कुछ करनेवाली हुई और आत्मा सब अकारक हो गए । अर्थात् आत्मा मे कुछ भी परिणमन नहीं होता है, ऐसा उक्त मतव्य बन गया किंतु ऐसा तो है ही नहीं कि कोई पदार्थ परिणमन शून्य हो । प्रत्येक पदार्थ निरन्तर परिणमन शील होता है, क्योंकि वे सत्स्वरूप हैं, जो परिणमनशील नहीं होता वह सत् स्वरूप भी नहीं होता । जैसे गधे का सींग परिणमनशील है ही नहीं तो वह सत् स्वरूप नहीं है ।

प्रकृतिवादैकांत में अनिष्टापत्ति–

देखो नय की वलिहारी कि गधा के सींग नही होती । पर अपने सकल्प से गधा के सींग हो सकती है । विचार मे सामने गधा खडा कर ले और उसके सिर पर सींग लगादें तो क्या कोई रोकता है ? अथवा गाय, बैल, भैंस बकरी आदि जिनके ऊँचे सींग हो उनके ही सींग विचार मे गधके जोड दें तो जीव वह भी था, जीव वह भी था , जिस चाहे संकल्प मे घुटाला करके गधे के सींग बनालें पर वस्तु स्वरूप को देखो तो गधा के सींग नहीं होते क्योंकि वे परिणमन शील ही नहीं हैं तो प्रकृति ही सब कुछ करती है ऐसा उनका मन्तव्य बन गया जैसा कि वे सांख्य खुद ही कहते हैं । प्रकृति से महान् हुआ इंटेलीजेन्स कुछ ज्योति, ज्ञान उसके क्षयोपसम से हुई, उससे अहकार । अहकार से इन्द्रिय, इन्द्रिय से तन्मात्रायें, विषय और उन मात्रावो से ये सब दृश्यमान भूत हुए । ऐसा सर्व कुछ जो उत्पन्न हुआ वह सब प्रकृति की देन है, ऐसा मानने पर फिर तो आत्मा अकारक ही हो गया, परिणमन शून्य हो गया ।

अहवा भण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणई ।
एसो मिच्छसहावो तुम्ह एय मुणतस्स ॥ ३४१ ॥

शङ्काकार द्वारा आत्मकर्तव्व के समर्थन का बलप्रयोग—

अथवा इस दूषण के भय से यह मान लिया जाय कि भाई मेरे मत में

तो आत्मा अकारक नहीं है, आत्मा अपने आपको करता है। जैसे किसी सेन्स में कुछ जैन भी ऐसा मानने लगे हैं कि आत्मा तो ज्ञान परिणमन को परिणमने वाला है और रागादिक को परिणमने वाले कर्म हैं आत्मा नहीं है। जैसे उनकी दृष्टिमें परिणमना न परिणमना बराबरसा बन गया तो हमारे मतमें भी आत्मा ज्ञानसे भी नहीं परिणमता, किन्तु आत्मा चैतन्यस्वरूप अपनेको करता है।

वृत्ति विना स्वरूपका अभाव— आप कहेंगे कि इसका तो कुछ अर्थ ही नहीं निकला, ज्ञानरूप भी नहीं परिणमता और चैतन्यस्वरूप अपने को किए रहता है इसका मतलब क्या है? कहनेका मतलब क्या है तुम्हें चुप करना है इतना ही तो मतलब है। जैसे एक कहावत है कि— जाट रे जाट तेरे सिरपर खाट। तेली रे तेली तेरे सिर पर कोल्हू। भाई तुक तो नहीं बनी। तो भार तो लद गया। आत्मा रागरूप भी नहीं परिणमता और ज्ञानरूप भी नहीं परिणमता। सो जब कहा कि आत्मा अकारक हो जायेगा तो बात बनाते हो कि वह अपने को चैतन्यरूप कर रहा है जानन का स्वरूप नहीं, दर्शनका स्वरूप नहीं, राग रूप, विभाव रूप, परिणमन का मतलब नहीं तब फिर चैतन्यरूप क्या? तो तुम यह कहोगे कि मेरे मतमें तो आत्मा आत्माको करता है, तो ऐसा मानने वाले तुम्हारे मतमें मिथ्या भाव प्रकट ही सिद्ध है। यह कहना मिथ्या क्यों? तो युक्ति देते हैं।

अप्पा णिच्चो असंखिज्जपदेशो देसियो उ समयम्हि।
णावि सो सक्कइ तत्तो हीणो अहियो य काउं जे ॥३४२॥

आत्मामें आत्मद्रव्यका ही कर्तृत्व क्या — आगममें आत्माको नित्य असंख्यातप्रदेशी बताया गया है। तो यह आत्मा उस असंख्यात प्रदेश प्रमाणसे न तो हीन किया जा सकता है और न अधिक किया जा सकता है। आत्मा आत्माका कर्ता है। इस पक्षके उत्तरमें पहिली बात यह रखी जा रही है कि आत्मा आत्माका करता क्या है? क्या इसे घट बढ बना देता है? सो असंख्यात प्रदेशसे न यह हीन होता है और न अधिक होता है। एक बडे शरीरवाला जीव भी असंख्यातप्रदेशी है और असंख्यात प्रदेशीको घेरे हुए है और एक अत्यन्त पतली बूंदसे भी बहुत छोटा कोई जीव कीड़ा वह भी असंख्यातप्रदेशी है और असंख्यात प्रदेशसे घिरा हुआ है और निगोद जीव जिसका शरीर आंखों दिख ही नहीं सकता उतना सूक्ष्म शरीरी जीव भी असंख्यातप्रदेशी है और आकारके असंख्यात प्रदेशमें फैला हुआ है और एक केवली समुद्घात करने वाले केवली

भगवानका जीवलोक पूरण समुद्घातके समय असंख्यात प्रदेशी है और असंख्यात प्रदेशों को घेरे हुए है। शरीरसे मुक्त होनेके बाद सिद्धभगवान का भी जीव असंख्यातप्रदेशी है और आकाशके असंख्यातवे प्रदेशको घेरे हुए है।

नित्य आत्मद्रव्यका क्या करना— यह जीव सर्वदा असंख्यात प्रदेशी है और नित्य भी है। अब उसमें कार्यपना क्या आया? कार्य तो उसे कहते हैं कि पहिले न था और अब हुआ। जैसे यह ज्ञान जो ज्ञानके समयमें चल रहा है वह ज्ञान पहिले न था, इस रूपसे और अब हुआ है। तो कार्य बन गया। यह तक भी परिणमन आत्मासे न हुआ तो अब आत्मा ने आत्माको और क्या किया? आत्मद्रव्य पहिले न हो और अब हो जाय तो आत्माको किया हुआ समझिये। जो अवस्थित है, नित्य है, असंख्यात-प्रदेशी है उसमें कुछ प्रदेश घट जायें, कुछ प्रदेश फिक जायें ऐसा भी नहीं हो सकता। पुद्गल स्कंधकी तरह कुछ प्रदेश आये और कुछ प्रदेश चले जाये ऐसा तो होता नहीं, फिर कार्यपना क्या?

प्रदेशविभाजनसे द्रव्यके एकत्वका अभाव— यदि आत्माके प्रदेशोंमें कुछ आ जाय, कुछ चला जाय तो फिर यह एक न रहा। इसमें एकत्व नहीं रहा। जैसे ये दिखने वाले पदार्थ भींत खम्भा चौकी आदि एक नहीं हैं, इनमें से कुछ हिस्सा निकल जाता है, कुछ हिस्सा आ जाता है, ये एक नहीं हैं, ये अनेक हैं, मिले हुए हैं, इसलिए ये बिखर जाते हैं, जहा एक वस्तुका हिस्सा नहीं हो सकता, हो जाय हिस्सा तो समझलो कि वह एक न था, अनेक मिले थे।

स्वरूपविरुद्ध अपलाप— यहा जीवको परिणमने वाला सिद्ध कर रहे हैं। यहा जिज्ञासु ज्ञानपर, विभावोंपर हाथ नहीं रखना चाहता, इसकी मान्यतामें यह जीव न ज्ञानरूप परिणमता, न दर्शनरूप परिणमता, न विभावरूप परिणमता यह आत्मा तो आत्माके करता है कोई विवाद करे, १० दिन विवाद करे, ५० दिन विवाद करे, अपनी ही कहते रहें, विवाद नहीं छोडें तो वचन तो वे हैं ही अपनी-अपनी सिद्ध करते जायेंगे।

हठकी क्या चिकित्सा— एक देहाती पचायत थी, उसमें एक पटेल जी बैठे थे। तो ऐसी बात सामने आयी कि किसीका मामला था, सो पूछा गया कि ३० और ३० कितने होते हैं? तो पटेलको बोल आया कि ५० होते हैं। लोगोने कहा कि ३० और ३० मिलकर ६० होते हैं। चाहे अगुली पर गिन लो या ककड़ रखकर गिन लो। उसने कहा, नहीं ५० हा होते हैं। औरोंने कहा कि ५० नहीं होते हैं। पटेल बोला कि अच्छा अगर

५० कही होते हैं तो हमारी ४ भैसे हैं, बारह बारह सेर दूध देती हैं, यदि ५० न होते होंगे तो हम चारो भैसे पचायतको दे देंगे। तो लोग बडे खुश हुए कि कल चारो भैसे मिलेंगी। अपनी समाजके बच्चे खूब दूध पियेंगे। यह कथा पटेलनी ने जानली तो वह रोवे, बडी उदास थी कि कल भैंसे चली जायेगी, अपने बच्चे अब क्या खावे पीवेंगे? पटेल घरमे आकर स्त्रीसे बोला कि क्यो उदास हो? स्त्री बोलीकि तुम्हारी करतूतसे दुखी हैं। तुमने ऐसा कर दिया कि कल भैंसे चली जायेगी। पटेल बोला कि तू तो कुछ जानती नहीं है। अरे भैंसें तभी तो जावेंगी जब हम अपने मुखसे कह देंगे कि ३० और ३० मिलकर ६० होते हैं। सो कोई कुछ वहे इसने तो जो तत्त्व माना, जो पक्ष माना वही कहता है। अब क्या कर लेंगे?

सकोच विस्तार होने पर भी असख्यातप्रदेशित्वमे अबाधा— शकाकार कहता है आत्मा न ज्ञानरूप परिणमता, न रागादिरूप परिणमता, ये तो सब प्रकृतिके कार्य हैं। आत्मा तो आत्माको करता है। अरे भाई तो कहनेसे क्या है? कुछ बात तो सामने लावो कि सब आत्मा आत्माको करते किस रूप हैं? आत्मा असख्यातप्रदेशी है, वहा घट बढ तो होता नही। हा नहीं होता है, अरे घटबढ तो महाराज नही होता, पर प्रदेशोंमे सकोच और विस्तार तो होता रहता है, सो यहां आत्माने आत्मा को किया। तो समाधानमे कहते हैं कि भाई आत्माका प्रदेश नित्य अवस्थित है। आत्माके प्रदेशके बिछुडने मिलनेसे तो एकत्व मिट जाता है इसलिए प्रदेशका तो कुछ नहीं किया।

दृष्टान्तपूर्वक नियतताकी सिद्धि— अब रहा कि जो छोटे बडे नियत शरीर हैं उन शरीरोंके अनुसार आत्मामे संकोच और विस्तार होता है। इससे आत्मामें एकत्व भी आ गया और करना भी हो गया, सो कहते हैं कि यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि संकोच और विस्तार भी हो जाय पर निश्चित असख्यात प्रदेशमे कमीवेशी तो नहीं हुई। जैसे गर्मीमें चमडा सूख जाता है और उसके प्रदेश सिकुड जाते हैं और बरसातमे चमड़ा फैल जाता है उसके प्रदेशका विस्तृत हो जाता है, ऐसा सकोच विस्तार होकर भी प्रदेश वे ही हैं। ऐसे ही आत्मामे सकोच और विस्तार होकर भी आत्मद्रव्यमें प्रदेश वे ही हैं, वहां अपूर्व कुछ नही हुआ। इस कारण आत्माने आत्माको द्रव्यमें प्रदेशमें कुछ नहीं किया।

ज्ञातृत्व कर्तृत्वके विरोधका जिज्ञासु द्वारा समर्थन— यदि इस दृष्टि द्वारा अवगमन हो कि वस्तुका स्वभाव तो सर्वथा दूर किया ही नहीं जा

सकता, सो ज्ञायकभाव आत्मा ज्ञानस्वभाव सहित ही ठहरता है। तनिक और अब बड़े समाधानदाताकी ओर पर शंका ज्योंकी त्यों रखनी है कि भाई आत्माको जो ज्ञायकस्वरूप है वह अभी तो था चैतन्यस्वरूप, इसको अब ज्ञायक नाम लेकर कहा जा रहा है कि वह तो ज्ञानस्वभावसे ही सदा ठहरता है और ज्ञानस्वभावके रूपसे सदा जो ठहर रहा हो उसमें ज्ञायकपना और कर्तापना—इन दोनोंका अत्यन्त विरोध है। तुम भी तो कहते हो। जो ज्ञाता है सो कर्ता नहीं है, जो कर्ता है सो ज्ञाता नहीं है। सो आत्मा तो सदा ज्ञायकस्वभावसे ही ठहरा है। वह मिथ्यात्व रागद्वेष आदि भावोंका कर्ता नहीं होता।

आत्माके अपरिणामित्वकी सिद्धि— शंकाकारका प्रयोजन इस समय ऐसा डटा हुआ है कि वह किसी भी विभावको आत्माका परिणमन नहीं मानता। उन सबको प्रकृतिका परिणमन कह रहा है क्या? कि ज्ञायकपनेका और कर्तापने का अत्यन्त विरोध है। सो विभावोंका वह कर्ता नहीं और होता जरूर विभाव है, इसलिए हम तो यही जानते हैं कि उन विभावोंको करने वाले कर्म ही हैं। यहा निमित्तदृष्टि नहीं रखी जा रही है। शंकाकारके अभिप्रायमें कर्म ही रागरूप परिणमते हैं, आत्मा तो सदा ज्ञानस्वभावसे ही ठहरा रहता है। अरे भाई इस मन्तव्यमें तो आत्मा आत्माको करता है, यह बात तो बिल्कुल ही नहीं बनी। जैसे कहने लगते हैं कि पचोंका हुकुम सिर माथे, पर पनाला यहींसे निकलेगा। यही एक परम शुद्ध निश्चयनयका दृष्टात है।

नयोंके कार्य— नय अपना विषय बतलाते हैं, उनका काम दूसरे नयोंके विषयका खण्डन करना नहीं है। यह प्रकरण करने वालेकी कला है कि उस समय उस नयको जान लिया, एक को मुख्य कर लिया, एकको गौण कर लिया। जो कोई कुछ कह रहा है उसका मन्तव्य और दृष्टि जैसी अपनी दृष्टि बनाकर सुना जाय तो उसका कहना सही है, पर इतनी क्षमता कल्याणार्थी पुरुषमे ही हो सकती है, हठी पुरुषमें नहीं हो सकती है। जब हम नैयायक, मीमांसक, वैशेषिक, बौद्ध आदि अनेक सिद्धान्तोंका स्याद्वाद द्वारा समन्वय कर सकते हैं तो जैन-जैनमें ही परस्पर विपरीत कहे जा रहे हुए वचनोंका समन्वय करनेकी क्या स्याद्वादमे क्षमता नहीं है? हा यह बात अवश्य है कि उन सब बातोंको जानकर कल्याणके लिए हमें कौन सो बात मुख्य करना है, उसको हम मुख्य करें और उसका आश्रय करें।

निर्णय और आश्रय - भैया! विवादमें विसम्वादमें रहकर कोई सफल नहीं होता है। हा कह दो भाई, आपकी बात ठीक है, इस दृष्टिसे

ठीक है। निपट गये। पक्ष कोई पडेगा नहीं। विवाद शान्त हो गया। तो जिसका आश्रय, जिसका आलम्बन, जिसकी दृष्टि हमें अशांतिसे हटाती है, शातिमें ले जाती है उसका आलम्बन करें यह तो ठीक बात है, पर निश्चय, व्यवहार, द्रव्य, गुण, पर्याय, निमित्त उपादान वाली बात भी तो सही है। उनकी भी दृष्टियां बना लें। हां इस दृष्टिसे तो ठीक है, तो यहां यह प्रकरण जो चल रहा है कि कर्म आत्माके अज्ञान आदिक सर्व भावों को करते हैं, ऐसा जो एक पक्ष रखा है उस पक्षमें उपादेय रूपसे कर्ममे कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता। ऐसी बात कह चुकनेके बाद अब स्याद्वाद प्रणालीसे सक्षेपमे यह बात बतायेंगे कि आत्मा कर्ता यों है और आत्मा अकर्ता यों है।

जीवस्स जीवरूव णिच्छयदो जाव लोगमित्तंपि।
तत्तो सो किं हीणो अहिओ व कह कुणदि दव्वं ॥३४३॥

जिज्ञासा समाधानका उपसहार— जिज्ञासुके अभिप्रायके अनुसार जीव न रागका कर्ता है, न ज्ञानका कर्ता है। यह प्रकट किया जा रहा है और साथ ही यह भी सिद्ध करना उसे आवश्यक हो गया है कि आत्मा कुछ न कुछ करता जरूर है। यदि यह सिद्ध करनेका प्रयत्न न करे तो आत्माका अभाव मानना पडेगा। इस कारण यह बात जिज्ञासुने कही थी कि जीव तो जीवके स्वरूपको करता है। तब कहा गया कि जो नित्य असख्यातप्रदेशी है उसको यह क्या करता है? वह तो इतना ही अवस्थित है। तो अब वह यह बात रख रहा है कि जीवके प्रदेश फैलें तो लोक मात्र फैल जायें और सकोच भी करते हैं। जिन्दा ही अवस्थामें बिना समुद्घात के यह जीव चार हजार कोस लम्बा, दो हजार कोस चौड़ा और एक हजार कोस मोटा इतने प्रमाणमें रह सकता है। जैसे स्वयम्भूरमण समुद्रमें विशाल मत्स्यका जीव है।

सम्मूर्छन जन्ममें अत्यधिक अवगाहनाकी नि सशयता— कितने ही लोग मनमें इतनी आशंका रखते हैं कि कहीं जीवका शरीर इतना बड़ा भी होता है? यह आशका ठीक नहीं, क्योंकि यह जीव समूर्छन जन्म वाला है, समूर्छन जन्मका यह मतलब है कि मिट्टी कूड़ा सब कुछ चीजें पडी हुई हैं जो कि शरीरके योनिभूत है। जब वे योग्यभूत हो जाती हैं तो किसी जीवने आकर उसको शरीररूपसे ग्रहण कर लिया, अत इतना बड़ा शरीर माननेमे भी तो आपत्ति नहीं है। अभी जिसने ४-६ अंगुलकी ही मछलियां देखी हों अपने गांवके तलैयोंमे या नदियोंके किनारेमे, उसे यह सुनकर अचरज होगा कि २ मीलकी भी मछली होती है, और

होती हैं, जाकर देख आवो जहां होती हैं और इतना तक हो जाता है कि दो चार मीलकी लम्बी मछलियों पर कूड़ा जम जाय और उस पर घास जम जाय और कोई भारी टापू जानकर अपना पड़ाव उसपर डाल दे और मछली धीरेसे जरा करवट ले ले तो सारा का सारा पड़ाव जलमग्न हो जाता है। सम्मूर्छन जन्म वालेके शरीर प्रारम्भसे ही बहुत बड़े होते हैं। जीवके प्रदेश विस्तारको प्राप्त हो तो उतने हो जाते हैं, और लोकपूरण समुद्घातमें तो जीव सारे लोकको व्याप जाता है।

लोकपूरणसमुद्घात— कैसा होता है लोकपूरण समुद्घात? अरहंतदेव जिनकी आयु तो थोड़ी रह गयी और शेष तीन अघातिया कर्मोंकी बहुत अधिक स्थिति है तो ऐसा तो होगा नहीं कि मोक्ष जायेगा तो पहिली आयु खत्म हो गयी, फिर और कर्म खत्म हो गये। चारों अघातियाकर्म एक साथ क्षयको प्राप्त होते हैं, तब होता क्या है कि केवली समुद्घात, अर्थात् केवलीके आत्माके प्रदेश शरीरको न छोड़ते हुए शरीर से बाहर फैल जाय, इसका नाम है समुद्घात। केवली भगवान यदि खड्गासन विराजे हों तो देह प्रमाण ही चौड़े वे आत्मप्रदेश नीचेसे ऊपर फैल जाते हैं और पद्मासनसे विराजे हों तो देह जितना मोटा है उससे तिगुने प्रमाण मोटाईको लेकर फैलता है। इसका कारण यह है कि पद्मासनमें जितना एक घुटनेसे दूसरे घुटने तक प्रमाण हो जाता है वह देहकी मोटाई से तिगुना हो जाता है, फैल गये प्रदेश नीचे से ऊपर तक। यह पहिले समयकी बात है, इसका नाम है दंड समुद्घात।

इसके पश्चात् अगल बगलमें प्रदेश फैलते हैं तो फैलते चले जाते हैं, जहां तक उन्हें वातवलयका आदि मिलता है। इसे कहते हैं कपाट समुद्घात याने किवाड़की तरह मोटाईमें नहीं बढ़ता किन्तु अगल बगल फैल जाय। इसके बाद तीसरे समयमें आमने सामनेमें फैलते हैं। इसका नाम है प्रतरसमुद्घात और चौथे समयमें जो वातवलय छूट गये थे उन समस्त वलयोंमें फैल जाना इसका नाम है लोकपूरण समुद्घात। इस स्थितिमें आत्माके प्रदेश एक-एक बिखरे, हो जाते हैं और लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर आत्मप्रदेश एक एक स्थित होते हैं, इसको कहते हैं, समवर्गणा। इसके बाद फिर वे प्रदेश सिकुड़ते हैं ऐसे प्रतरसमुद्घातमें फिर सिकुड़कर कपाट समुद्घात, फिर दण्ड समुद्घात हुआ, फिर देहमें पूर्ववत् हो गये, इतनी क्रियावोंके परिणाममें बाकीके तीन कर्मोंकी स्थिति, आयुकी स्थितिके बराबर हो जाती है।

केवलीसमुद्घातसे कर्मस्थितिनिर्जराका समर्थन— जैसे धोती

निचोड़ी और निचोड़कर ज्योंकी त्यों धर दिया तो उसके सूखनेमें कहो दिन रात लग जाये। कहो २४ घंटेमें भी न सूखे और उसे फटकार कर फैलाकर डाल दिया जाय तो ७ मिनटमें ही सूख जाती है। इसी प्रकार यह कार्माणशरीर एक केन्द्रितसा बना है, इसमें विषम स्थान है। जब यह कार्माण शरीर भी फैल जाता है तो एक दृष्टान्तमात्र है कि जल्दी सूख जाता है। तो देखो आचार्यदेव किया ना आत्माने कुछ काम। फैल गया, सिकुड़ गया, इसलिए आत्मा अकारक बन जाय, यह आपत्ति न आयेगी। इसके उत्तरमें आचार्यदेवने बताया कि फैलने सिकुड़ने पर क्या वह प्रदेश-हीन अथवा अधिक किया जा सकता है कभी? तब द्रव्यका क्या किया? और भी अपने पक्षमें दूषण देखो।

अह जाणओ उभावो णाणसहावेण अत्थि इत्ति मयं।
तम्हा णवि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणइ ॥३४४॥

मौलिक शंका समाधान— हे शिष्य! यदि तेरा यह मत बने कि ज्ञायकस्वरूप यह आत्मपदार्थ ज्ञानरूपसे पहिले से ही है सो यह ज्ञानरूप रहता है। यह निर्मल आनन्दमय एक ज्ञानस्वभावी शुद्ध आत्मा पहिलेसे ही है, वह तो ज्ञानस्वभावरूप रहता ही है, तो ऐसा कहनेमें यह बात फिर कहा रही कि आत्माने आत्माके द्वारा आत्मामें आत्माको स्वयं किया। हां यह बात है कि जो निर्विकार परम तत्त्वज्ञानी पुरुष है वह चूंकि शुद्ध स्वभावका अनुभव करता है। अतः वह विभावोंका कर्ता नहीं है। निष्कर्ष क्या निकालना कि यह ज्ञायकभाव ज्ञायकस्वरूप सामान्य अपेक्षासे अपने ज्ञानस्वभावमें ही रहा करता है, सामान्यदृष्टिमें परिणमन नहीं है फिर भी कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर उत्पन्न होने वाले मिथ्यात्व आदिक भावोंके ज्ञानके समयमें चूँकि यह जीव अनादि कालसे ज्ञेय और ज्ञानके भेदविज्ञान से शून्य है इसलिए परको आत्मा जान रहा है। सो अब विशेषकी अपेक्षासे अज्ञानरूप जो ज्ञानका परिणमन है उसका करने वाला बना, सो कर्ता हो गया।

अज्ञान अवस्थामें कर्तृत्व— भैया! इस अज्ञानी मोही आत्माकी बात कही जा रही है कि यह आत्मा भी सामान्य अपेक्षासे ज्ञानस्वभावमें ही अवस्थित है, सो ऐसा होने पर भी यहां कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर रागादिक भाव हो रहे हैं, सो वे तो इसके लिए ज्ञेय बनने चाहियें। सो उस ज्ञेयमें और इस ज्ञानमें चूंकि उसे भेदविज्ञान नहीं रहा, सो अब विशेष अपेक्षासे यह अज्ञानरूप परिणमने लगा। ज्ञान सामान्यका ग्रहण तो नहीं रहा, इसलिए कर्ता मानना चाहिए।

ज्ञानका ज्ञेय— भैया! हम और आपका ज्ञेय वास्तवमें ये बाह्य पदार्थ नहीं है। हम चौकीको, भींतको, आपको, घटाको किसीको नहीं जान रहे हैं सब कोई अपने आपके ज्ञानगुणका जो ग्रहणरूप परिणमन हो रहा है। उस परिणमनको जान रहे हैं तो आप क्या धन वैभव परिवार को जान रहे हैं? नहीं। तद्विषयक रागको जान रहे हैं। सो राग जानते रहनेमें कुछ आपत्ति नहीं, पर ज्ञेयरूप जो राग है और जाननहार जो ज्ञान है सो चूँकि वह उस ही एक निजकी बात है, भूल हो गयी, भ्रम हो गया। भेदविज्ञान न रहा सो अब रागका ही करने वाला हो गया। आप अगर रागको ग्रहण करना अच्छा मानते हैं तो रागको करना। यदि उपयोग रागको ग्रहण न करे तो परिणमन होते हुए भी उसमें करनेका व्यपदेश नहीं होता। सो जब तक अज्ञान अवस्था है, इस ज्ञेय और ज्ञानमें भेदज्ञान नहीं हो रहा है तब तक उसे कर्ता मानना चाहिए और जब ज्ञेय और ज्ञानमें भेदविज्ञान हो जाय तबसे यह आत्मा आत्माको ही आत्मारूप से जानने लगता है और विशेष अपेक्षाका भी फिर ज्ञानरूपसे ही ज्ञानका परिणमन बना है तब केवल ज्ञाता रहता है और उसे साक्षात् अकर्ता मानना।

ज्ञानकला— इस आत्मामें एक ज्ञान गुण ही प्रधान और साधारण ऐसा गुण है कि जिसके द्वारा ही समस्त व्यवस्था और काम चलता है। अभी आपका ध्यान यदि यहा सुननेमें न हो, कहीं किसी परवस्तुका विकल्प करते हों तो हम पूछ सकते हैं कि आप इस समय हैं कहा और आप भी कह बैठते कि हम इस समय लश्करमें हैं। शरीरसे और प्रदेशसे तो यहा बैठे हो और कहते हो कि लश्करमें हैं। इसका कारण यह है कि उपयोगने लश्करको घेर लिया। तो उपयोग जहा है वहीं हम हैं। उपयोग अपने आत्मामें है तो हम अपने आत्मामें हैं। यद्यपि यह जीव शरीरके विकट बन्धनमें है, इस समय ऐसा तो नहीं हो सकता कि हम तुमसे कहें कि शरीर तो वहीं बैठा रहने दो और आपका जीव जरा सरक कर हमारे पास आ जावे। आप कहेंगे कि भीड़ बहुत है, यहासे निकलनेका रास्ता नहीं है। अरे नहीं है तो शरीर वहीं बना रहने दो और आप जीव यहा आ जावो, तो ऐसा तो नहीं किया जा सकता। फिर भी शरीरका उपयोग न रखे यह कुछ हो सकता है।

बन्धनमें भी स्वातन्त्र्यदृष्टि— एक पुरुषने अपने मित्रको निमन्त्रण दिया—भाई कल १० बजे हमारे यहा भोजन करना। पर देखो आप अकेले आना क्योंकि एकके अलावा दो को खिलानेकी हमारे पास गुञ्जाइश

नहीं है। वह मित्र दूसरे दिन १० बजे पहुंच गया अकेला तो वह कहता है कि वाह हमने तो आपसे कहा था अकेले आनेको। अरे तो अकेले ही तो आए हैं। अरे अकेले कहां आए, यह शरीरका बंडल अथवा बिस्तर तो साथमें लपेट लाये हो, बिस्तर या बिषतर किसे कहते हैं? एक तो विष और दूसरा विषसे ज्यादा विष, उसका नाम है बिस्तर, बिषतर याने इसमे यह अपेक्षा समझना कि बिस्तर वही पुरुष रखता है जिसके गृहस्थी है, जिसके और कुछ हैं। तो बिस्तर और विष कुछ नहीं हैं, यह तो अंदाज कराता है कि इनका जीवन विषमय वातावरणमें रहता है। इसलिए उसका नाम धरा गया बिस्तर। तो यह शरीर पिंडोला तो तुम लपेटकर लाये हो। हमने तो तुम्हें अकेले आनेको कहा था। सो वह अकेले कैसे आता, बधन में है, लेकिन इस जीवमें ऐसी ज्ञानकला है कि शरीरमे रहता हुआ भी शरीरका भान न करे और केवल ज्ञानस्वरूप अपने ज्ञानको लेता रहे तो भैया! जब यह ज्ञेय और ज्ञानमे भेदविज्ञान करता है, राग भावमे और ज्ञानमे भेदविज्ञान करता है तो अकर्ता होता है।

आत्माका बाह्यमें सर्वथा अकर्तृत्व— बाह्यपदार्थ ज्ञेय नहीं है, यह तो ज्ञेयके विषयभूत है, आश्रयभूत है। बड़े हैं, वेचारे गरीब हैं ये बाह्यपदार्थ। उन्हींको सुधारते और बिगाड़ते हैं। जिन वेचारोंने कोई अपराध नहीं किया। न सुधार करें, न बिगाड़ करें। परम अपेक्षासे रहित उदासीन पडे हैं, उन पर हम आप नाराज होते हैं, स्नेह करते हैं। वे तो हमारे जानने में कभी आ ही नहीं सकते। मेरा ज्ञान गुण मेरे आत्माके प्रदेशको छोड़कर क्या दूर जा सकता है? एक परमाणुमात्र भी, प्रदेशमात्र भी मेरेसे बाहर ज्ञानकी कला नहीं खिल सकती। तो ज्ञान जो कुछ करेगा वह अपनेमे करेगा। ज्ञान क्या करेगा? जानन। वह कहा जावेगा? अपनेमे। तो ज्ञानका प्रयोग किस पर हुआ? अपने पर। तो जाना किसको एक अपने को।

अज्ञानपरिस्थिति— जिसको अज्ञानी जान रहा वह अपना यह स्वयं कैसा बन रहा है? रागरूप द्वेषरूप। ये ज्ञेय हो गए। इस ज्ञेयमें और निज ज्ञानमें भेद जब नहीं पडा था तब वह उस ज्ञेयको, उस अज्ञानरूप करने वाला हो गया था और जब इस ज्ञेय और ज्ञानमें भेदविज्ञान हुआ तो अब जब जान लिया कि यह कपटी मित्र है तो उस मित्रका आकर्षण तो नहीं रहता। जब जान लिया कि यह अहितभाव है तो उसकी ओर आकर्षण नहीं रहा। तब उस ज्ञेयरूप नहीं परिणमा, अज्ञानरूप नहीं परिणमा, किन्तु ज्ञानरूपसे ही परिणम गया। ऐसी स्थितिमें यह ज्ञानी

जीव अकर्ता हो जाता है।

आत्मधर्म— भैया! क्या करना है अपन को? धर्म करना है, मोक्ष जाना है। क्या करना है? अरे जिन अरहतदेवके चरणोंमें सारे लोक आए उनकी ही तरह बनना है। इतना बडा काम करना है। यह कितना बडा काम है? आप जान जावो। जहां लाखों आदमी झुकते हैं, जिसका स्तवन करते हैं, जिनकी भक्ति करते हैं, उनकी जो स्थिति है वह बड़ी स्थिति है। वह बडी स्थिति है कि यहां नोट जोड लेना बड़ी स्थिति है? खूब देख लो। तो तुम्हें क्या चाहिए? तुम्हें बड़ी स्थिति चाहिए। तब फिर क्या करना है इतना महान् बननेके लिए? अरे भीतर ही भीतर ज्ञेय और ज्ञानमें भेदविज्ञान करना है, जिसको करते हुए न आफत आयेगी, न खटपट होगी, न दूसरे जानेंगे, न बाहर हल्ला मचेगा। गुप्त ही गुप्त एक अपने आपमें अपना गुप्त काम कर लें। इसके फलमें इतना महान् पद प्राप्त होता है।

अन्तर्वृत्ति द्वारा धर्माश्रय— भैया! धर्म करने के लिए हाथ पैर नहीं पीटना पड़ता है, यह तो ज्ञान साध्य बात है, इसही ज्ञान द्वारा जो कि ज्ञेय और ज्ञानमें मिश्रण कर रहा था, स्वाद ले रहा था, राग और ज्ञानको एक मिलाकर चबाकर ग्रास बनाकर जो एक स्वाद ले रहा था वह तो था अज्ञानका परिणमन और ज्ञेयसे ज्ञानको जुदा जान लिया यह राग परिणाम है, यह मेरे स्वरूपमें नहीं है, यह आ टपका है, मैं ज्ञानमात्र हूं— ऐसी वृत्ति जगे तब की बात है। जिसकी यह वृत्ति जगती है उसके कषाय व्यक्तरूपमें नहीं रहता है या अधिक नहीं रहता है। वह किसी भी बाह्य प्रकरणमें आसक्त नहीं होता है, ऐसा ज्ञानरुचिक पुरुष जब ज्ञानको ज्ञानरूपसे ही परिणमाता है तब वह साक्षात् विभावका अकर्ता बनता है।

व्यक्त प्रभुत्वसे पहिलेकी परिस्थिति— अब पदवी अनुसार नीचे थोड़ा आते जाइए परिणमन होता है मगर अकर्तापन है, ऐसा अकर्तापन अन्तरात्मावोंके है। और परिणमता भी है व कर्ता भी है, एकमेक बना डालता है, यह है अज्ञानकी अवस्था। जैसे हाथीके सामने हलुवा धर दो, चाहे कितना ही बढ़िया हो, शुद्ध हो, कितना ही घी पड़ा हो उसे धर दो और घास धर दो तो क्या उस हाथीमें इतना विवेक है कि खाली हलुवा खाकर मजा ले लेवे। उसके तो इतना विवेक ही नहीं है। वह तो घास और हलुवा दोनों को मिला करके अपने मुँहमें डाल लेता है। उसके कोई विवेक नहीं है। इसी तरह इस रागभावको और इस ज्ञानभावको, रागकी घासको और ज्ञानकी मिठाईको यह अज्ञानी जीव कभी यह न सोचेगा कि

यार विभाव-घास छोड़कर खाली ज्ञान मिठाईका स्वाद लें। इसे पता ही नहीं है। राग और ज्ञान मिला जुलाकर उनमें एक रस मानकर भोगे जा रहा है। अपने ज्ञानको इसे खबर ही नहीं है।

कर्तृत्वका स्याद्वाद द्वारा निर्णय— यह जीव जब भेदविज्ञान कर लेता है तब उस ज्ञानके प्रतापसे अकर्ता बन जाता है। जब अज्ञानी रहता है तब कर्ता बनता है। यह जीव ज्ञान सामान्यरूपसे तो ज्ञानरूप है मगर विशेषरूपसे भी यह ज्ञानरूप बने, परिणमे तो जीव फिर अकर्ता होता है। निश्चयनय और व्यवहारनय इन दोनोंका समन्वय होता है तब तीर्थ प्रवृत्ति होती है।

जीवसे प्राणकी भिन्नता या अभिन्नता— इस प्रकरणमें एक प्रश्न और किया जा सकता है कि बतावो जीवके प्राण जीवसे भिन्न हैं कि अभिन्न हैं? अगर प्राण भिन्न हैं तो प्राणघात होने पर भी जीवका क्या बिगड़ा। और प्राण जीवसे अभिन्न हैं तो जीव अमर है सो प्राण भी अमर हुए क्या बिगड़ा, हिंसा न होनी चाहिए। तो वहां उत्तर यह है कि निश्चयसे तो जीवके प्राण जीवसे भिन्न हैं और व्यवहारसे जीवके प्राण जीवसे अभिन्न हैं। अच्छा तो व्यवहारसे अभिन्न हैं तो व्यवहारसे हिंसा लगे, निश्चयसे न हिंसा लगे। कहते हैं कि यह बात ठीक है। निश्चयसे तो हिंसा लगती ही नहीं। व्यवहारसे ही लगती है। तब तो हम बड़े अच्छे रहे। अरे अच्छे कहां रहे? व्यवहारसे हिंसा लगी और व्यवहारसे ही नरकका दुःख भोगा, सो यदि तो तुम्हें व्यवहारसे नरकका दुःख भोगना पसंद है तो व्यवहारकी हिंसा करते जाइए। अगर नहीं पसंद है व्यवहारसे नरकका दुःख भोगना तो व्यवहार हिंसा भी छोड़ो। तो सर्वकथन निश्चय और व्यवहार दृष्टिसे समन्वय करके जानते रहना और जो अपने प्रयोजन की बात है उस दृष्टिको मुख्य बनाइए।

आत्मप्रयोजन— यहां प्रयोजनकी बात इतनी है कि ज्ञानस्वरूपमें और रागस्वरूपमें भेदविज्ञान हो जाय, तथा रागका ग्रहण न करो, ज्ञान-स्वरूपका ग्रहण करो। उस स्थितिमें यह जीव सर्वबाधावोंसे हटकर मोक्ष-मार्गी होता है।

प्रकरणका स्पष्टीकरण— इस प्रकरणमें, कौनसी मान्यतासे जिज्ञासु चल रहा था और उसका समाधान किया गया है? इस बातको फिर एक बार दुहरा लें। बात यह थी कि ऐसा श्रमण जो सांख्य आशयके अनुसार आत्माको ज्ञानका अकर्ता, रागका अकर्ता मान रहा था और कर्मप्रकृतिको सबका कर्ता मान रहा था, उसके आशयका यहां निराकरण किया गया है।

प्रकृति द्वारा ज्ञान, अज्ञान, निद्रा, जागरणकी चर्चाका स्मरण—अथवा जिज्ञासुने कहा था कि देखो आत्माको कर्म ही तो अज्ञानी बनाते हैं क्योंकि ज्ञानावरण नामक कर्मके उदय बिना अज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती। देखो कर्म ही जीवको ज्ञानी बनाते हैं क्योंकि ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम बिना ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती। कर्म ही तो इस जीवको सुलाता है क्योंकि निद्रा नामक दर्शनावरण कर्मके उदयके नींद तो आती नहीं और कर्म ही इस जीवको जगाता है क्योंकि निद्रानाशक दर्शनावरणके क्षयोपशमके बिना जीव जगता नहीं है। कर्म ही सुखी करे इस जीवको ऐसा कहनेमें भी इतना ही मात्र भाव उसका नहीं है किन्तु सुखरूप परिणमन कर्म ही करता है और जीव उसको आत्मरूपसे अंगीकार करता है, इस आशयको लेते हुए जिज्ञासु कह रहा है।

कर्म द्वारा सुख, दुःख, मिथ्यात्व, असंयमसे होनेकी चर्चाका स्मरण—देखो साता वेदनीयकर्मके उदय बिना जीव सुखी तो नहीं होता, इसलिए इस सुखका भी करने वाला कर्म है। असाता वेदनीयके उदय बिना जीवको दुःख नहीं होता। इस कारण ये कर्म ही जीवको दुःखी करने वाले हैं और एक बात ही क्या, सभी देखते जाओ। जीवमें मिथ्यात्व भाव आता है, आता क्या है, यह जीव अपनेमें झलकाता है। उस मिथ्यात्वको कर्मने ही किया क्योंकि मिथ्यात्व कर्मके उदयके बिना जीवके मिथ्यादृष्टि नहीं हुआ करती। असंयमी भी बनता है तो यह कर्म ही बनता है क्योंकि चारित्र मोह नामक कर्मके उदय बिना असंयम नहीं होता।

कर्म द्वारा भ्रमण, शुभ, अशुभ भाव होनेकी चर्चाका स्मरण—भव की भी बात देखिये, मरनेके बाद जन्मता है, तो कर्म ही इसको तीनों लोकोंमें भ्रमाता है क्योंकि आनुपूर्वी नामक कर्मके उदयके बिना इस जीव का भ्रमण नहीं होता है और यहां भी चलता है जिन्दावस्थामें तो ये कर्म ही चलाते हैं क्योंकि विहायोगति नामक कर्मके उदयके बिना यह चल नहीं सकता। तथा जितने भी शुभ परिणाम अथवा अशुभपरिणाम हैं उन सब का कर्म ही कर्ता है क्योंकि शुभ अथवा अशुभ रागद्वेषादिक कर्मके उदयके बिना शुभ अशुभ भाव नहीं होते। सारी बातोंको कर्म ही स्वतंत्र होता हुआ करता है, कर्म ही करता है, कर्म ही देता है, कर्म ही हरता है, इस कारण हमको तो यह निश्चय होता है कि जीव नित्य ही एकांतसे अकर्ता ही है। ऐसा अन्यासनवाद अबसे २०, ३० साल पहिले चल रहा था और आचार्यों के समयमें तो चल ही रहा था, नहीं तो खण्डन किसका किया ?

बुद्धिका प्रकृति विकार माननेका रहस्य—इस जिज्ञासुका मंतव्य

यह है कि राग, द्वेष, ज्ञान, अज्ञान ये सब कर्मके परिणमन हैं। निमित्त कर्ताकी बात नहीं कही जा रही है किन्तु कर्म ही इस रूपसे परिणमता है और जीव है चैतन्यस्वरूप, सो बुद्धिका जो निश्चय कराया जाय उस तरह से यह अपने को झलकाता है। अब पूछे कि वह बुद्धि अलगसे क्या है जिसने कि इसको इस प्रकारका निश्चय करा डाला तो बुद्धिको जीवकी चीज मानने लगें तो जितनी भी शंका उठेगी वह सब बेकार हो जायेगी सो ऐसी बुद्धिको भी प्रकृतिका कार्य माना गया है।

कर्म द्वारा अब्रह्म होनेकी चर्चाका स्मरण— और भी आगे जिज्ञासु कहता जा रहा है कि आगमोंमें भी खूब लिखा है कि पुरुषवेद नामक कर्म स्त्रीकी अभिलाषा करता है, और स्त्रीवेद नामक कर्म पुरुषकी अभिलाषा करता है तो कर्मने कर्मकी ही अभिलाषा की। इसका समर्थन हुआ ना आगमसे, तो जीव तो अब्रह्मका भी कर्ता नहीं।

जीवके शाश्वत शुद्धताकी मान्यता— जीवमें ऐब नहीं है, दोष नहीं है, नित्य शाश्वत शुद्ध स्वच्छ है ऐसा इस शंकाकारने कहा है और उसके द्वारा यह दृष्टान्त भी दिया जा सकता है कि जैसे स्फटिक है, स्वच्छ मणि है, उसमें कोई रंग लाल पीला नहीं है पर लाल पीला रंग सामने आ जाय तो स्फटिकमें लाल पीला रंग प्रतिभासता है। वहां पूछो कि लाल पीला रंग स्फटिकमें प्रतिभासता है या उस समयमें वह रंगरूप परिणमन भी है कि नहीं ? तो उसका उत्तर मिलेगा कि नहीं है और प्राय: यहीं भी सब से पूछ लो, यही कह देंगे कि नहीं रंग रूप परिणमा। वह तो सफेदका ही है। बड़े ध्यानसे सुननेकी बात है।

उपादानमें परिणमनका समर्थन— अच्छा लो भाई उस स्फटिकमें तो रंग नहीं आया किन्तु एक विदित मात्र ही हुआ है, ठीक है। अच्छा बताओ स्फटिक तो स्वच्छ है, इसलिए थोड़ी शंका हो सकती है पर जो दर्पण है, जो आरपारसे स्वच्छ नहीं दिख रहा है, जिसके पीछे लाल मसाला है उस दर्पणमें जब हम देखते हैं तो उसका छाया परिणमन होता है। वह छाया परिणमन उस दर्पणका हुआ है या वह भी केवल दिखने मात्रकी बात है। अब इसमें कुछ लगता होगा कि इसमें दिखने मात्रकी बात नहीं है, छायारूप दर्पणमें परिणमन हुआ। कुछ लगा होगा अभी। और चूनामें हलदी डाल दी जाय तो सफेद चूना लालरूप जो परिणम गया है वह भी दिखने भरकी बात है या परिणम गयी है ? यह स्पष्ट मान लेंगे कि परिणम गया। तो जैसे यह चूना लाल रूप परिणम गया है इसी प्रकार आर पास स्वच्छ स्फटिक भी उस कालमें रंगरूप परिणम गया,

पर ये परिणमन सब औपाधिक है। सो उपाधिके सान्निध्यमें तो इस रूप परिणमता है और उपाधिके अभावमें इस रूप नहीं परिणमता।

मालिन्यकी औपाधिकता-- भैया! उस स्फटिकके सामने जितने काल उपाधि है उतने काल वहां उस रूप परिणमन है। उपाधि हटी कि वह परिणमन मिट गया। तो चूँकि उपाधिके शीघ्र हटा देने पर शीघ्र परिणमन मिटता है और शीघ्र सामने लाने पर शीघ्र परिणमन होता है इस कारण यह बात लोगोंको जल्दी मालूम होती है कि स्फटिकमें केवल रंग दिखता है, रंगरूप परिणमता नहीं है। इसी प्रकार इस ज्ञायकस्वभावमय स्वच्छ आत्मामें कर्म उपाधि सामने है जैसा तैसा परिणम गया, न रहा तो मिट गया, इतनी बात देखकर यह आशय बना लिया गया कि आत्मामें राग परिणमन होता नहीं है किन्तु मालूम देता है और इससे बढ़कर चले तो आत्मामें ज्ञानपरिणमन भी होता नहीं है किन्तु मालूम देता है ऐसा जिज्ञासुका मन्तव्य था।

समस्त भावोंका प्रकृतिके कर्तृत्व-- जितने भी भाव कर्म है उन सबका करने वाला पुद्गल कर्म है। देखो ना कर्मने ही कर्मकी अभिलाषा की। अब जीव अब्रह्म कैसे हो गया, अब्रह्मका कर्ता जीव नहीं होता, अब्रह्मका कुशीलका दोषी होनेका सर्वथा निषेध है। जीव तो शाश्वत शुद्ध है और भी देखो जिज्ञासु प्रमाण पर प्रमाण दे रहा है जो दूसरेको मारता है, दूसरेके द्वारा मारा जाता है उसे बोलते हैं परघात कर्म इस वाक्यसे कर्म ही कर्मको करता है इसका समर्थक हुआ। जीव तो हिंसाका करने वाला नहीं रहा। सो जीव सर्वथा अकर्ता है। इस प्रकार अपनी प्रज्ञाके अपराधसे शास्त्रका सूत्रोंका अर्थ न जानता हुआ कोई श्रमणाभास ऐसा वर्णन कर रहा है, प्रकृतिको ही एकांतसे कर्ता मान रहा है। सब जीव एकांतसे अकर्ता हुए--ऐसा मानने पर समाधानरूपमें आक्षेप दिया जा रहा है। तो इस तरह आगममें यह भी तो लिखा है कि जीव वस्तु है और वस्तु उसे कहते हैं जो अर्थक्रिया करे और अर्थक्रिया करनेसे ही मायने कर्ता है तो जीव कर्ता है यह बात तो फिर दूर हो जायेगी।

भावपरिणमनके अभावमें आत्माके अकर्तृत्वकी सिद्धि— यदि तुम इसके उत्तरमें यह बोलो कि नहीं जी, कर्म तो आत्माके अज्ञान आदिक कहा समस्त पर्यायोंको करता है और आत्मा अपनेको द्रव्यरूप करता है। दृष्टि दो इस जिज्ञासुने आत्मा द्रव्यपर्यायात्मक है ना है। तो उसमें जितना पर्यायपना है उसका करने वाला कर्म है और जितना द्रव्यपना है उसका करने वाला आत्मा है। आत्मा तो एक आत्माको द्रव्य रूप किया करता है। सो

देखो जीव कर्ता भी बन गया और पर्यायोंको करने वाला भी नहीं रहा। द्रव्यका करने वाला हुआ। कहते हैं कि यह बात भी तुम्हारी मिथ्या है। क्योंकि जीव तो द्रव्यरूपसे नित्य है, असंख्यातप्रदेशी है, लोकप्रमाण है। अब उस नित्य जीवद्रव्यमें कार्यपना क्या आगा क्योंकि कार्यपना यदि आयेगा तो नित्यपना न रहेगा क्योंकि कृतकत्वका और नित्यत्वका एकांततः विरोध है। जो बनाई गयी चीज है वह हमेशा नहीं रहा करती, जो हमेशा रहता है वह बनाया हुआ नहीं होता है। तो इसका अर्थ है कि आत्मा नित्य नहीं रहा। क्या यह तुम्हें इष्ट है? तो जिज्ञासुको तो यह इष्ट है ही नहीं। इस कारण इस जीवने आत्मा-द्रव्यको कुछ नहीं किया।

फिर जिज्ञासु कहता है कि जीवने द्रव्यसे तो समूचेको नहीं बनाया पर देखो जो असख्यातप्रदेशी हैं उन प्रदेशोंको यह करता है। कहते हैं कि प्रदेशोंको क्या करेगा? क्या कोई प्रदेश कम होते हैं? क्या कोई प्रदेश ज्यादा होते है? यदि कम और ज्यादा होने लगें पुद्गल स्कंधकी भांति इसका अर्थ यह हुआ कि यह आत्मा एक ही न रहा, एकत्वरूप नहीं रहा। इसलिए आत्मा ने आत्माको द्रव्यरूप क्या किया? इसके बाद फिर यह जिज्ञासु कहता है कि यों तो प्रदेशका कर्ता नहीं है और प्रदेश कहीं फैलता है, कहीं संकुचित होता है तो उसको संकोच और विस्तारको करने वाला तो आत्मा हुआ ना। कहते हैं कि इस प्रकारसे वह आत्मा कर्ता नहीं बन सकता क्योंकि प्रदेशका सकोच भी हुआ, विस्तार भी हुआ तो भी हीना अधिक तो नहीं किए गये। लो कितनी बार अभी मुठभेड़ हुई?

ज्ञायकत्व व कर्तृत्वके विरोधपूर्वक भावपरिणामके प्रकृतिकर्तृत्वका समर्थन— इसके बाद आखिरी बात और कहता है यह जिज्ञासु कि भाई और बात तो जाने दो, पर यह तो बतलावो कि जो वस्तुका स्वभाव है वह कभी दूर किया जा सकता है क्या? नहीं दूर किया जा सकता है। तो यह ज्ञायक स्वभावी आत्मा ज्ञानस्वभावसे सहित ही ठहरता है और इस प्रकार ठहरता हुआ जब नित्य रहता है तो अब यह विचार कर लीजिए कि जो ज्ञायक है वह क्या कर्ता होता है? जो कर्ता है वह ज्ञायक नहीं, जो ज्ञायक है वह कर्ता नहीं और आत्मा सदा ज्ञायक स्वभावसे रहता ही है तब इसके मायने यही हुआ ना कि यह जीव मिथ्यात्व आदिक भावकर्मोंको नहीं करता, हुआ ना ठीक।

समस्त भावपरिणमनोंका प्रकृति द्वारा किये जानेका पूर्वजिज्ञासु द्वारा युक्तिपूर्वक समर्थन— और भी देखिये जैसे कि यह प्रश्न किये जाने

पर कि मुक्त तो हो जाता है जीव, लौटता तो है नहीं, तो कभी संसार खतम हो जायेगा, उसके समाधानमें जिस तरह यह युक्ति दी जाती है कि देखो जो जीव मुक्त हो गए हैं अर्थात् पूर्ण निर्दोष हो गए हैं, अब उनके उपादानमें अशुद्धता की योग्यता ही नहीं है तो कारण बतावो कि किस वजहसे फिर वह संसारमें आता है ? आ तो नहीं सकता। उपादान ही ऐसा नहीं है और मुक्ति सो होती है, इससे यह जानना चाहिए कि जीव राशि इतनी अनन्त है कि उसमें से अनन्त जीव भी मुक्ति चले जायें तब भी अनन्ते जीव रहते हैं। तो जिज्ञासु कह रहा है कि महाराज आत्मा तो सदा ज्ञायकस्वभावमें ही ठहरता है, नहीं तो आप बता दें कि कभी यह ज्ञानस्वभावमें नहीं भी रहता है क्या, बोलो मुखसे, रहना चाहिए ना, सदा ज्ञानस्वभावमें रहता है और जो सदा ज्ञानस्वभावमें ही ठहरता है वह कर्ता कैसे ? क्योंकि ज्ञानका और कर्ताका विरोध है लेकिन मिथ्यात्व रागादिक भाव होना जरूरी है। तब इसका किसे कर्ता मानेंगे ? सीधी बात है कि कर्म कर्ता है। समस्त भाव कर्मोंका कर्ता प्रकृति है, आत्मा नहीं है ऐसा जिज्ञासुने युक्तिपूर्वक अपना अंतिम आशय बताया।

समाधानकी प्रस्तावना— इस पर यह समाधान दिया जा रहा है कि यह भी तुम्हारा केवल ख्याल ही ख्याल है। जैसे किसी बच्चेको तेज नींद आ रही हो और उस तेज नींदमें उस बच्चेको झकझोरकर जगा दो कि चलो घर, तो उसने तनिक आंखें खोली और फिर बंद करलीं, फिर उट कर पैर फैलाकर वह सो गया। फिर जगाया चलो-चलो उठो, फिर उसने आंखें खोलीं, तो उसका आंखें खोलना उन्मेषमात्र है। न उसे कुछ दिखना है और न उतनी आंखे खुलने पर भी कुछ चेत है, उसके तो वेहोशी है। वह तो जगाने वाली माताकी जबरदस्ती है, सो एक आध सेकेण्डको पलक खुल गये, फिर गिर गये। इसी तरह ये तुम्हारे केवल ख्याल-ख्यालके ही पलक उठ रहे हैं पर इसमें जगना तुम्हारा कहीं नहीं होता। यह तो हम तुम्हारे आक्षेप लगाते थे कि जीव कर्ता नहीं रहा सो जबरदस्ती कर्ता सिद्ध कर रहे हो। सिद्ध होता नहीं है तुम्हारे मंतव्यमें। तब निर्णय क्या है ? महाराज आपही समाधान करें तो निश्कर्ष रूपमें निम्नांकित समाधान किया जा रहा है।

भावपरिणमनोंका जीव द्वारा किये जानेके सम्बन्धमें वस्तुगत निर्णय— ज्ञायकस्वभाव आत्मा सामान्य अपेक्षासे तो ज्ञानस्वभावमें अवस्थित है सो तो ठीक है पर अनादि कालसे जो निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध चल रहा है और यहां कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए रागद्वेषादिक भाव

आचार्य थे तब तो ऐसी बातोंको कहा करते थे कि विषयभोग असार है, देवगति हेय है, इन सब बातोंका वर्णन करते थे और अरहंतकी तो बहुत अधिक निन्दा करते थे, तो वे मोक्ष तो गए नहीं, अंदाज ऐसा है कि देव हुए होंगे, तो सैकड़ों हजारों देवियोंके बीच गानतान होते रहते होंगे, मस्त होते रहते होंगे, यह हाल हो रहा होगा, जो शुभकर्म किया उसका फल भोगा, पर मग्र ज्ञानकी महिमा है ऐसा तो उन्हें होना ही पड़ा होगा, पर भेदविज्ञान वहां भी जागृत होगा तो सब महफिलके बीच रहकर भी वे अपने ज्ञान और वैराग्यकी दृष्टि बनाये होंगे।

ज्ञानसे ही सभाल— भैया! ससारकी परिस्थितियोंसे बचकर कहां जाये? यहा जो अपने ज्ञानको और वैराग्यको सभाल सकता है उसकी ही विजय है। जैसे यहां गृहस्थीमें रहकर कोई यह सोचे कि इतना उद्यम करलें इतने धनका अर्जन करले, बच्चोंको इतना पढ़ा लिखा दे, इनकी शादी करदे तब निश्चिन्त हो जायें, फिर खूब धर्मसाधना करेंगे, तो वह कभी निश्चिन्त हो ही नहीं सकता। क्या करे, धन कमा लिया, फिर इच्छा होगी कि इतना और कमा लें, धन कमा लेनेके बाद उसकी रक्षा करना है। लड़केकी शादी करदी, लड़की की शादी करदी, फिर किसी लड़का या लड़कीकी शादी करना है। अभी एक नातीकी शादी कर ली, फिर दो साल बाद एक नाती हो गया। फिर उसकी शादी करनेकी बारी आयी। एक सालमें ही लड़के पैदा होनेका हिसाब एक घरमें ही लगा लो किसीके ५-६ लड़के हों तो एक का एक लड़का हुआ, फिर एक साल बाद दूसरेके लड़का होनेका नम्बर आयेगा। अब बतलावो कब निवृत्त होंगे? तो बाहरमें हम परिस्थितियोंको इस प्रकार बना लें तब आरामसे निर्विघ्न निश्चित होकर धर्मसाधना करेंगे यह सोचना बिल्कुल व्यर्थ है।

धर्मसाधनार्थीका कर्तव्य-- जिसके धर्मसाधनाकी मशा हो, कैसी ही विकट आजकी परिस्थिति हो उस परिस्थिति में भी अपना समय अपना उपयोग धर्मसाधनामे लगाएँ। वह बात तो है सच्ची और इतना सचय करलें, यह करलें ऐसा सोचना है बिल्कुल झूठ। रात्रिके समय अष्टाह्निकामें अरहदास सेठकी ७ सेठानी बाते कर रही थीं। सम्यग्दर्शनकी कथा हो रही थी। सम्यग्दर्शन मुझे इस तरह हुआ। तब सबने कहा बिल्कुल सच। छोटी सेठानी कहे बिल्कुल झूठ। दूसरी सभी सेठानी कहें बिल्कुल सच। वे सभी बाते पीछे खड़ा-खड़ा राजा सुन रहा था। राजा सोचता है कि यह कथन तो हमारे सामनेका है, फिर यह छोटी सेठानी झूठ क्यों कहती है? सोचा कि कल न्याय करेंगे। सेठानीके घर भरको राजाने बड़े

मना कर देता है, पर आचार्यदेव यह सिद्धान्त बता रहे हैं कि जब तक रागादिक होते हैं तब तक यह जीव रागरूप परिणमता है, कर्म रागरूप नहीं परिणमता, पर हां जब भेदविज्ञान हो गया तो समझ लो कि मैं ज्ञानस्वरूप होने से रागादिकको अपनी हिम्मतसे नहीं करता, होते हैं उदयवश, ये परभाव हैं ऐसा जाना तब अकर्तृत्व आ गया, पर परिणमन है अभी। सो हे अर्हतो! इस आत्माको भेदविज्ञानसे पहिले रागादिकका कर्ता मानो, भेदविज्ञानके बाद रागादिकका अकर्ता मानो।

कर्तृत्व और अकर्तृत्वका स्पष्ट विश्लेषण— यहां तक स्पष्ट शब्दोंमें यह बता चुके हैं कि भेदविज्ञान होनेसे पहिले इस जीवको तुम कर्ता समझो। यहां परके कर्तापनके विकल्पकी बात कही जा रही है। परका कर्ता तो कोई हो ही नहीं सकता। चाहे कैसा ही अज्ञानी हो। यदि अज्ञानी जीव परका कर्ता बन जाय तो उसमें भगवानसे भी अधिक सामर्थ्य आ गयी। भगवान किसी परको नहीं कर सकता। ताकत ही नहीं है। और इसके मंतव्यमें इस अज्ञानीमें इतनी ताकत आ गयी कि वह परको करने लगा। अपने आपमें जो रागादिक भाव परिणमन होता है उसका और अपने स्वरूपका जिसे भेदविज्ञान नहीं है ऐसा अज्ञानी जीव अपने ज्ञानस्वरूपके आलम्बनको छोड़कर यह मानता है कि मैं रागादिकका करता हू और वह रागादिकका कर्ता है, किन्तु ज्यों ही इस जीवको भेदविज्ञान होता है मेरा तो मात्र ज्ञायकस्वरूप है, ये रागादिक परिणमन हो तो रहे हैं--पर उपाधिका त्यों ही, इस ज्ञानके होते ही जीव उनका अकर्ता हो जाता है, फिर भी कुछ काल तक ये होते हैं।

ज्ञानस्थितिके दर्शनकी प्रेरणा-- भैया! जैसे दर्पणमें सामने रखी हुई चीजका प्रतिबिम्ब पड़ता है तो उस प्रतिबिम्बका करने वाला कौन है? कोई नहीं है और होता सो है। तब यह निर्णय करना कि उपाधिका निमित्त पाकर यह दर्पण स्वयकी परिणतिसे प्रतिबिम्बरूप परिणम गया। निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध होना बताना तो वस्तुके स्वभावकी रक्षा करना है, उसको मना न करना। यह अज्ञानी जीव निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धको नहीं समझता है इसलिए परका परको कर्ता मानता है। जब भेदविज्ञान हुआ, मैं अपने सत्त्वके कारण जिस स्वरूप हू उस स्वरूप मात्र हू और उस स्वरूपका सहज अपने ही द्रव्यत्वगुणके कारण जो परिणमन होता है वह तो मेरी चीज है और जो पर-उपाधिका निमित्त पाकर रागादिक परिणमन होते हैं, वे मेरे नहीं हैं, उनका मैं कर्ता नहीं हू। इस कारण हे जिज्ञासु पुरुष! भेदविज्ञानके पश्चात् जो ज्ञाताके उपयोगकी स्थिति बनती है उसे

आतो दृष्टिमें लो और यह देखो कि कर्तृभावसे च्युत अचल एक यह ज्ञाता मात्र ही है।

अपरिणामवादका तेज जवाब देनेके दसगमें एक नया पक्ष-- यहां तक अपरिणामवादके निराकरणमें यह सिद्ध किया गया कि जीवके रागादिक भाव कर्मके करने वाली कर्म प्रकृति नहीं हैं, किन्तु कर्म प्रकृतिका निमित्त पाकर यह अशुद्ध उपादान वाला जीव अपनी परिणतिसे रागादिक रूप परिणमता है। अब इसके बाद एक दूसरी समस्या आकर उपस्थित होती है कि जो करने वाला है वही जीव भोगने वाला नहीं है। एक जिज्ञासु जो यह देख रहा है कि करनेके समय भाव और होते हैं भोगनेके समय भाव और होते हैं। करने वाला और है, भोगने वाला और है। जैसे मोटे रूपमें मनुष्य ने तो तपस्या की और देवने सुख भोगा, मनुष्य ने तो पाप किया और नारकी ने उसका दुःख भोगा। करता तो मनुष्य है पर मनुष्य भोगता नहीं है। भोगता देव या नारकी है। सो जिज्ञासु कह रहा है कि हम तो यह मानते हैं कि करने वाला और है भोगने वाला और है। यह तो एक मोटा दृष्टांत है पर स्पष्ट बात यह है कि ये आत्मा अपने भावोंको लेकर उत्पन्न होते हैं और दूसरे समयमें वे समाप्त हो जाते हैं। फिर अपने भावोंको लेकर दूसरा आत्मा उत्पन्न होता है। यह अपरिणामवादके विरुद्ध तेज परिणामवाद उसको ही द्रव्य मान रहा है।

क्षणस्थायित्वके व्यावहारिक उदाहरण-- जैसे जो मनुष्य था ना वह मरकर देव बन गया तो मनुष्य तो नहीं रहा, इस तरह और वृत्तिमान मानकर यह कहा जा रहा है कि क्षण क्षणमें आत्मा नया-नया उत्पन्न होता है। तभी तो देखलो यह विश्वास नहीं है कि आज हमारी मित्रता है तो कल भी रहेगी। आज दूसरा आत्मा है कल कोई दूसरा आत्मा होगा। तो क्या विश्वास है कि कलका आत्मा मित्रता रखेगा या नहीं। क्षण-क्षण में आत्मा नया-नया उत्पन्न होता है। इसलिए करने वाला और है, भोगने वाला और है। यह है क्षणिकवादका सिद्धान्त। सुनते ही यह सोच रहे होंगे कि यह कैसा लचर सिद्धान्त है, पर जरा उनके आशयको समझो।

क्षणिकवादमें संभव आक्षेपका उत्तर-- जैसे दीपकमें नई नई बूंदें प्रत्येक सेकेन्डमें जल रही हैं, सेकेण्डमें नहीं, सेकेण्ड से भी हलका जो टाइम हो, एक-एक बूंद क्षण-क्षणमें जल रही है, मानो एक मिनटमें हजार क्षण होते हैं तो एक मिनटमें हजार बूंदें जलीं। और एक-एक बूंदका एक एक दिया रहा, किन्तु उन हजारों दियोंका संतान एक है इसलिए जरा भी

यह अन्तर नहीं होता कि, लो अभी, यह दिया था अब यह हो गया, जैसे वहा हजारों दीपक जल उठे एक बातीके आश्रयमें, एक मिनटमें, पर लगातार एक बूंदके बाद दूसरी बूंद दीपकके रूपमें आई फिर तीसरी बूंद दीपकके रूपमें आई, इसलिए वहा भेद नहीं मालूम पड़ता।

क्षणक्षयीके संतानमें एकत्वके भ्रमका वर्णन— जब बिजलीका पखा हाई स्पीडसे चलता हो तो उसकी पखुड़िया दिखती हैं क्या? नहीं दिखती। यद्यपि उन पखुड़ियोमें ८-१० अंगुलका अन्तर है। बड़ा पखा हो तो और अधिक अन्तर रहता है पर वहा भी पखुड़िया अलग-अलग नहीं मालूम होतीं। इसी तरह एक आत्माके बाद दूसरा आत्मा होता है, पहिले वाला आत्मा चला जाता है किन्तु निरन्तर होता है इस कारण वहा अन्तर नहीं मालूम होता, यह लगता है कि वाह! वही तो आत्मा है। यह कह रहे हैं क्षणिकवादकी ओरसे। बीचमें यह ध्यान रखे रहना चाहिए।

क्षणक्षयीके पूर्व आत्मा द्वारा उत्तर आत्माको स्वाधिकार समर्पण— जैसे मजदूर लोग एक जगहसे मान लो ५० हाथ दूर तक कुछ ऊपर तक उन्हें ईंटे ले जाना है तो समझदार मजदूर सिर पर ढोकर ईंटे नहीं ले जाते। बीचमें १०-मजदूरोंको पाच पाच हाथ दूर एक लाइनमें खड़ा कर लेते हैं, एकने ईंट उठाकर दूसरे को दिया, दूसरे ने तीसरेको दिया, इस तरहसे जरा सी देरमें वे ईंटे ५० हाथ दूर पहुच जाती हैं। तो इस तरहसे वे ईंटें कितनी जल्दी पहुच गयीं। इसी तरह यह आत्मा मरकर अपना चार्ज दूसरे आत्माको दे जाता है, नष्ट होकर दूसरेको चार्ज दे जाता है। इस तरहसे उस चार्जमें और व्यवहारके काममें फर्क नहीं आता है। यह कह रहे हैं क्षणिकवादकी बात। इस सिद्धान्तसे करने वाला और है, भोगने वाला और है। ऐसी मान्यता वाले इस मान्यतासे अपना अस्तित्व खोकर बेहोश हो गए हैं सो ज्ञानरूपी अमृतका सिंचन करके उनकी बेहोशी को दूर करना है और उनको यह देखनेका यत्न कराना है कि यह सद्भूत चैतन्य एक पदार्थ है और वह परिणमनशील है अत. नई-नई वृत्तियोंको वह उत्पन्न करता है, सो वृत्तिके अंशोंके भेदसे वृत्तिमानका नाश मत मान लो और यह भ्रम मत करो कि करने वाला और है और भोगने वाला और है। इस ही विषयको अनेकान्त द्वारा चार गाथावोंमें एक साथ कह कर प्रकट करते हैं।

केहिं चि दु पज्जयेहिं विणस्सए णेव केहि चि दु जीवो।
जम्हा तम्हा कुव्वदि सो वा अण्णो व णेयतो ॥३४५॥
केहिं चि दु पज्जयेहिं विणस्सए णेव केहिं चि दु जीवो।

जम्हा तम्हा वेददि सो वा अण्णो व णेयतो ॥३४६॥
सो चेव कुणइ सोच्चिय ण वेयए जस्स एस सिद्धंतो ।
सो जीवोणायव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥३४७॥
अण्णो करेइ अण्णो परिभुंजइ जस्स एस सिद्धंतो ।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥३४८॥

आत्मद्रव्यकी द्विस्वभावता-- बात ऐसी है कि यह जीव प्रतिसमय सम्भव होने वाले अगुरुलघुत्व गुणके परिणमन द्वारसे क्षणिक होनेके कारण अपने चैतन्यकी सीमाका उल्लंघन न करके किन्हीं रूपोंसे तो यह नष्ट होता है और किन्हीं रूपोंसे यह नष्ट नहीं होता है। ऐसा दो प्रकारका स्वभाव जीवके पड़ा हुआ है, अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे वह नष्ट नही होता है और पर्यायदृष्टिसे उसका विनाश होता है। एक जीवमें ही क्या, प्रत्येक पदार्थमें यह द्विस्वभावता पायी जाती है। परमार्थरूप और मायारूप ये प्रत्येक पदार्थमें पाये जाते हैं। इसी कारण यह एकान्त नहीं करना कि जो करता है वह नहीं भोगता, कोई अन्य भोगता है, या यह भी एकांत न करना कि जो करता है ऐसा वही भोगता है। यदि ऐसा मानोगे कि जो करता है वही भोगता है, किया तो मनुष्यने और भोगा देव ने, और यदि यह कहेंगे कि करता और है, भोगता और है तो भले ही देव बनकर भोगे मगर भोगा तो उसही जीवने न, इसलिए यहां कोई भी एकात नहीं करना, कथञ्चित् कर्ता भोक्ता न्यारे-न्यारे हैं व कथञ्चित् कर्ता भोक्ता वे ही के वे ही हैं।

कूटस्थता व क्षणक्षयितामें अर्थक्रियाकी असंभवता-- केवल क्षणिकवादमें और केवल अपरिणामीवादमें दोनोंमे ही काम नहीं चल सकता। सुबह आपकी दुकानसे कोई उधार सौदा ले जाएँ और आप अगर दोपहर को पैसा मांगेंगे तो गुञ्जाइस है उसे यह कहनेकी कि सुबह और कोई आत्मा था, अब हम दूसरे आत्मा बैठे हैं।

क्षणक्षयिताके छलमें एक विडम्बनाका उदाहरण— एक पंडित जी के तीन चार गायें थीं। एक ग्वाला उन्हें चराया करता था। प्रति गाय १) रुपया महीना उसका बँधा हुआ था। तो जब महीना भर हो गया, दूसरा महीना लगा तो उस ग्वाले ने कहा कि पंडित जी अब गायोंकी चराई हमें दो। तो पंडित जी बोले कि जिसकी तुम गायें ले गए थे, वह आत्मा तो दूसरा था, अब हम पंडित जी और बैठे हैं। सो कौन चराई दे? जिस आत्माने तुम्हें गायें देनेका निर्णय किया था वह आत्मा तो उसी समय नष्ट हो गया, अब तो और आत्मा है। यह उत्तर सुनकर वह ग्वाला चला

गया। दूसरे दिन उसने सब गाये अपने घरमे बाध लीं। रोज गाये पहुचा देता था पडित जी के यहा, पर उस दिन न पहुचायीं। पडित जी ग्वालाके यहा गये, बोले आज हमारी गायें क्यों नहीं बाधने आये? तो ग्वाला कहता है कि पडित जी जो सुबह गैया ले गया था वह आत्मा दूसरा था, अब मैं दूसरा हू। सो तो सुबह ले गया होगा वही आत्मा बाधने जायेगा। पंडित जी बोले कि तुम्हीं तो ले कर गये थे तो ग्वाला कहता है कि पडित जी तुम्हीं ने तो हमें गैया चरानेको दी थीं। हमें गैयोंकी चराई दे दो।

स्याद्वाद बिना व्यवस्थाकी अनुत्पत्ति— सो भैया! व्यवस्था कहां बन सकती है? क्षणिकवादमें भी वस्तुस्वरूपका यथार्थ दिग्दर्शन कराने वाले स्याद्वाद सिद्धान्तकी सामर्थ्य तो देखो--इसके बिना व्यवहार भी नहीं चल सकता, तत्त्वज्ञान भी नहीं हो सकता, शांतिका उपाय भी नहीं पाया जा सकता। सो वस्तुमें ऐसा अनेकात है कि यह जीव जो करता है, भोगता दूसरा जीव है, यह भी सही है और यही करने वाला है, यही भोगने वाला भी है, यह भी सही है। जीवमें द्रव्यपर्यायात्मकताका स्वभाव पड़ा हुआ है। द्रव्यदृष्टिमें जो कर्ता है वही भोक्ता है, पर्यायदृष्टिमें करने वाला और है व भोगने वाला कोई दूसरा है— ऐसा अनेकात होने पर भी जो पुरुष उस क्षणमें वर्तमान ही परिणमनको, वृत्तिको परमार्थ सत्के रूप से वस्तु मान लेते हैं, सो उन्होंने अपने ज्ञानमें तो चतुराई की कि भाई शुद्धनयका परिज्ञान करो, ऐसा शुद्ध देखो कि जिसका फिर खण्ड न हो सके। ऐसा शुद्ध वर्तमान एक समयका परिणमन मिला, इसका खण्ड नहीं हो सकता। तो शुद्ध ऋजुसूत्रनयके लोभसे वे इस एकातमें आ गए कि जो करता है वह नहीं भोगता। दूसरा कर्ता है दूसरा भोक्ता है, सो ऐसा जो देखना है वह मिथ्यादृष्टि ही जानना चाहिए।

स्याद्वादसिन्धुसे सिद्धान्तसरिताओंका सरण— स्याद्वादकी कुंजी बिना सिद्धान्तोंका जाल इतना गहन है कि सीधी सीधी सामनेकी बात तो न मानी जाय और टेढ़ी मेढ़ी जिसको सिद्ध करनेमें जोर भी पड़ता है, बातें भी ढूँढ़नी पड़ती हैं, ऐसी बात माननेमें अपनी बुद्धिमानी समझी जाती है। ठीक है। कीमत तो तब बढ़ेगी कि जैसा सीधा जानते हैं वैसा न कहकर कोई विचित्र बात बतायी जाय तभी तो बुद्धिमान् बन पायोगे। तो ऐसा वाग्जाल एकात सिद्धान्तका हुआ है। अथवा कुछ वाग्जाल नहीं है। ये सर्वसिद्धान्त स्याद्वाद सिन्धुसे निकले हैं। कौनसा सिद्धान्त ऐसा है जो वस्तुमे सिद्ध न होता हो? किन्तु दृष्टि और अपेक्षा लगानेकी सावधानी होनी चाहिए।

क्षणिक वृत्तियोंमें वृत्तिमानकी ध्रुवता— बात यहां ऐसी है कि यद्यपि जीवकी वृत्ति क्षणिक है अर्थात् जो परिणमन जिस समयमें हुआ है वह परिणमन अगले समयमें नहीं रहता, फिर भी जिस आधारमें जिस वस्तुका यह परिणमन चल रहा है, ऐसी वृत्तिवाला पदार्थ चैतन्य चमत्कार मात्र यह जीव टंकोत्कीर्णवत् निश्चल अतरंगमें प्रतिभासमान शाश्वत रहता है। यह कुछ दार्शनिक चर्चा थोडी सी आध्यात्मिक शैलीमें की गयी। अध्यात्मग्रन्थोंमें दर्शनशास्त्रकी चर्चा अधिक नहीं होती है, कुछ प्रकरणवश यह कह दिया गया है। इसके लिए तो जो न्यायग्रन्थ हैं प्रमेयकमलमार्तण्ड, अष्टसहस्री, न्यायकुमुद चन्द्रोदय आदि ग्रन्थोंको देखना चाहिए। उनसे यह बात और स्पष्ट ज्ञात होती है।

क्षणिकवाद अपरिणामवादकी प्रतिक्रिया— भैया! प्रयोजन यहां इतना था कि जैसे परिणतिसे स्वयं सुख दुःख करने वाला मानने वालोंको यह खतरा था कि वे स्वच्छन्द हो जाते, हम तो शुद्ध ही है, कौन खाता, कौन पीता, कौन राग करता, यह सब प्रकृति करती है। सो इसमें अपने आप मोक्षमार्गका उसे उत्साह ही न जगता। तो उसका यहां खतरा बचाया अर्थात् अपरिणामी मानता था सो उसे परिणामी बता दिया कि नहीं यह जीव परिणामी है, परिणमनशील हैं। अब इतनी बात सुनकर इस क्षणिकवादने बहुत तेज परिणाम मान लिया और इतना कि उन परिणामोंको परिणमन ही न कहकर पूरी वस्तु कह डाला। तब यह दूसरी शंका खड़ी हुई कि करने वाला और है, भोगने वाला और है। इस तरह दोनों एकान्तवादमें मोक्षका हल न निकल सका।

एक पदार्थमें द्रव्यदृष्टि व पर्यायदृष्टिके निर्णय— देखो भाई कितना अधेर मच गया कि करता तो और है, भोगता और है। अपराधी तो अपराध करे और निरपराधी दंड भोगे। इसका क्या उत्तर है? तो क्षणिकवादका उत्तर बतलाते हैं कि अपराध वहां इतना है कि यह भ्रम लग गया कि यह मैं आत्मा वही हू जो पहिले था। ऐसा माननेका अपराध न करता तो भोगता नहीं कुछ दंड। अहो! ये सब बातें पदार्थकी द्विस्वभावता जाने विना घर करती हैं। जीवमें द्रव्यपर्यायात्मकता पडी हुई है, सो द्रव्यदृष्टि से यह जीव वहीका वही है और पर्यायदृष्टिसे वह पर्याय नहीं है जो पर्याय पहिले थी, अब वह पर्याय दूसरी हो गयी। मगर बात क्या है और किस तरहसे उसका समर्थन किया जा रहा है?

विद्याके साथ प्रतिभाकी आवश्यकता— दो भाई थे। तो छोटा भाई बनारस पढ़ करके बड़ा विद्वान् होकर लौटने लगा। सो जब घर लौटने

लगा तो घोड़ेपर बड़ी बड़ी किताबें लादकर और भी अपना सामान लादे हुए एक गांवसे निकला। इस गांवमें यह बोला कि हम विद्वान हैं, काशीजी से पढ़कर आए हैं, कोई शास्त्रार्थ करना चाहे तो आ जावे मैदानमें। सो उस गांवमें एक पुराना चौधरी था वह शास्त्रार्थ करनेको आया। वह पहिले ही ठहरा लेता था कि अगर हम हार गए तो अपना सारा धन तुम्हें दे देंगे और अगर जीत गए तो हारने वालेका सारा सामान हम ले लेंगे। सो उससे भी ठहरा लिया कि अगर हार गए तो सब कुछ छीन लेंगे। विद्वानने कहा कि अच्छा करो प्रश्न। उसने कहा सरपटसों। दो उत्तर। उसने कहीं भी सरपटसों न पढ़ा था, सो क्या उत्तर दे ? शास्त्रोंको इधर उधर उल्टा पल्टा पर कहीं सरपटसों न मिला। सो वह हार गया। चौधरी ने उसका सब सामान छीन लिया। जब वह अपने घर गया तो भाईसे सारा किस्सा कह सुनाया। भाई बोला कि तुम पढ़े लिखे हो पर गुने नहीं हो। बोला कि हम जाते हैं शास्त्रार्थ करेंगे।

अब बड़ा भाई घोड़े पर अखबार वगैरह लाद लूद कर शास्त्रार्थ करने उस गांव पहुचा। बोला कि हम विद्वान हैं, शास्त्रार्थ जिसको करना हो कर सकता है। आ गये वही चौधरी साहब। तो चौधरी साहबने कहा कि यदि तुम शास्त्रार्थमें हार जावोगे तो सब तुम्हारा सामान छीन लेंगे और यदि जीत जाओगे तो अपना सारा सामान दे देंगे। कहा अच्छा करो प्रश्न। चौधरी साहबने वही प्रश्न किया सरपटसों। दो उत्तर। वह बोला कि तू तो कुछ समझता ही नहीं है, अधूरा श्लोक बोल रहा है। उसने चौधरी को उठा लिया, फिर जमीन पर पटका और कहा कि पहिले धम्मक धइया, फिर सूपाकी तरह पटका तो कहा कि फट्टक फों। फिर जमीन पर खूब पटका, खिचड़ी सो पकाया कहा खद्दर बद्दर, फिर कहा सरपट सों। याने खिचड़ीकी सरपट सों करना हो तो सारी विधि इस छन्दमें बताई गई है कि पहिले करो धम्मकधों याने उखरीमें चावल कूटो फिर करो, फट्टक फों याने सूपसे फटक लो, चावल शुद्ध करलो फिर हंडीमें खदर बदर करो याने पकावो जब खिचड़ी पक गयी तब तो होगी सरपटसों कि पहिले हो जावेगी याने खिचड़ी पक जाने पर ही तो सरपट सों करके खायी जायेगी। तो कहा कि तुम हारे कि नहीं ? हारे। सो चौधरी साहब का जितना धन था सब छीन छानकर और भाईका जो सामान था वह भी छीन छान कर उसी घोडेपर लादकर घर आया। सो भैया, किसी भी बात में कुछ प्रतिभाका भी तो कार्य करना चाहिये।

पदार्थमें द्रव्यपर्यायात्मकताकी दृष्टि— इस प्रकरणमें सर्व प्रथम

यह बात बता रहे हैं कि द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे जो कर्मको करते हैं वे ही कर्मको भोगते हैं क्योंकि द्रव्यार्थिकनयसे जब तत्त्वको देखते हैं तो वही जीव है अब मनुष्यपर्यायमें है जो जीव पहिले किसी अन्य पर्याय में था तो जिसने पहिले किया था वही अब भोग रहा है, पर पर्यायार्थिकनयसे देखा जाय तो करने वाला और होता है, भोगने वाला अन्य होता है, ऐसा जो मानता है वह है सम्यग्दृष्टि। पर्यायार्थिकनयका मतलब है कि पर्याय ही देखनेका जिसका प्रयोजन हो। जब पर्यायके रूपसे वस्तुको निरखते हैं तो किन्हीं पर्यायोंसे तो यह नष्ट होता है और किन्हीं पर्यायों से यह उत्पन्न होता है।

उत्पाद व्ययकी युगपत्ता-- भैया! नष्ट होना और उत्पन्न होना एक ही समयमें होता है, भिन्न-भिन्न दो समय नहीं हैं। जैसे घड़ा फूट गया, खपरियां हो गयीं तो घड़ेका फूटना और खपरियोंका बनना दोनों एक साथ होते हैं, याने खपरियोंके ही बननेका नाम फूटना है। तो केवल चाहे संभव संभवसे देखते जावो और विलय विलयसे देखते जावो, प्रत्येक समय नया-नया परिणमन होता रहता है। भोगने वाला भी द्रव्य नहीं है, पर्याय है, करने वाला भी द्रव्य नहीं है, पर्याय है। यह पर्याय द्रव्यसे अलग नहीं है कि द्रव्य तो कर्ता भोक्तासे रहित है और पर्याय कर्ता भोक्ता है ऐसे दो भाई नहीं हैं बराबरीके किन्तु द्रव्य परिणमनशील है, सो उस वस्तु में जो परिणमन अंश तका जा रहा है वह तो करने वाला और भोगने वाला है और उसही पदार्थमें जो अपरिणामी अंश तका जा रहा है वह न करने वाला है और न भोगने वाला है। कोई दो भाइयोंकी तरह बराबरी के दोनों नहीं हैं कि द्रव्य भी है और पर्याय भी है। वस्तु एक है पर वह शाश्वत है और परिणमनशील है। शाश्वत अंशको देखते हैं तो वहां कर्ता भोक्ता नहीं बनता और परिणमन अंशको देखते हैं तो वहां कर्ता भोक्ता बनता है।

दृष्टियोंसे सिद्धान्तका निर्णय-- जब यह जीव द्विस्वभाव वाला है सो द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे वह ही पुरुष कर्मको करने वाला है जो भोक्ता है किन्तु पर्यायार्थिक दृष्टिसे करने वाला दूसरा हो गया, भोगने वाला दूसरा हो गया, एकांत नहीं है, इसी तरह भोगनेमें भी लगावो वह ही भोक्ता है जो कर्ता है, यही है द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिकी बात। सो भी अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय है। जो जीव कर्ता है वह ही जीव भोक्ता है। यह द्रव्यार्थिक नयसे तो है परन्तु अशुद्धद्रव्यार्थिकनयसे है, अर्थात् जिसमें कर्ता भोक्ताकी कल्पनाएँ बनायी गयी हैं ऐसा द्रव्य करने वाला और भोगने

वाला है। पर्यायार्थिकनयसे करने वाला और है, भोगने वाला और है। पढ़ा तो विद्यार्थी ने, है और नौकरी करी पण्डितजी ने, पढ़ा तो स्टूडेन्टने और सर्विस करी बाबू जी ने। तो इसमें द्रव्यार्थिक दृष्टिसे देखो तो जीव वही है जिसने पढ़ा था और उसीने सर्विस की। पर पर्यायार्थिक दृष्टिसे देखो तो पढ़नेके समयकी इच्छा आदतें सब भिन्न थीं और अब सर्विसके समय इच्छा आदतें सब भिन्न हैं। सो करने वाला और है, और भोगने वाला और है।

पर्यायके अनुरूप व्यावहारिकता— जैसे किसीकी पहिले घनिष्ट मित्रता हो तो मित्रताके समयमें बहुतसे वायदे कर लिए जाते हैं और बहुतसे सहयोगकी बातें की जाती हैं। तो बड़े वायदे किये मित्रतामें और बड़ा सहयोग दिया, फिर बीचमें उस दूसरे मित्रने कुछ कपट खेला जिससे उसका दिल फट गया। अगर वह कपटी मित्रसे कहे कि क्यों भाई कल तो तुम यों कह रहे थे, आज क्या बन गये, तो वह क्या कहता है कि कल वह दूसरा था आज दूसरा बन गया। अर्थात् कल तक जो आत्मा था वह अब नहीं रहा। तो पर्यायकी मुख्यता ही तो रही।

पर्यायके अनुकूल गति— एक मित्र था, सो वह बीमार मित्रको देखने गया, बड़ा तेज बीमार था। खबर पूछी कहो भाई कैसी तबियत है? वह कहता है कि क्या बताऊँ भाई तबियत बड़ी खराब है; बिस्तरसे उठा नहीं जाता, बोला नहीं जाता। खबर दबर लेकर वह चला गया। दूसरे दिन फिर वह मित्र गया। वह मर चुका था। लोगोंसे पूछता है दरवाजे पर कि कहो भाई मित्रकी तबियत कैसी है? कहा कि वह तो दुनियासे चला गया। उसे बड़ा गुस्सा आया। बोला कि कल तो यूं कहे थे कि बिस्तरसे उठा जाता नहीं और आज दुनियासे भी चलनेकी ताकत आ गई। अरे भाई जो बिस्तरसे उठा नहीं जाता था वह परिणमन दूसरा था, अब जो दुनियासे चला गया वह परिणमन दूसरा है। तो वही कर्ता है और वही भोक्ता है यह द्रव्यार्थिकनयसे है। करने वाला और है भोगने वाला और है, यह पर्यायार्थिकनयसे है।

परिणतिकी विविधता व ज्ञानका सामञ्जस्य— मनुष्यभवमें जो शुभ कर्म किया उसको देवलोकमें जाकर भोगेंगे, ठीक है, पर उसने ही तो भोगा ना और जब पर्यायार्थिककी मुख्यतासे देखा तो जो करने वाला है वह भोगने वाला नहीं है, अन्य भोगने वाला है। मनुष्यने किया और देवने फल भोगा ऐसा हो ही जाता है। जो आपके आचार्य कुन्दकुन्दाचार्य समंतभद्र, अकलंकदेव आदि बड़े ज्ञानी तपस्वी आचार्य हुए हैं तो जब वे

आचार्य थे तब तो ऐसी बातोंको कहा करते थे कि विषयभोग असार है, देवगति हेय-है, इन सब बातोंका वर्णन करते थे और अब्रह्मकी तो बहुत अधिक निन्दा करते थे, तो वे मोक्ष तो गए नहीं, अंदाज ऐसा है कि देव हुए होंगे, तो सैकड़ों हजारों देवियोंके बीच गानतान होते रहते होंगे, मस्त होते रहते होंगे, यह हाल हो रहा होगा, जो शुभकर्म किया उसका फल भोगा, पर सब ज्ञानकी महिमा है, ऐसा तो उन्हें होना ही पड़ा होगा, पर भेदविज्ञान वहा भी जागृत होगा तो सब महफिलके बीच रहकर भी वे अपने ज्ञान और वैराग्यकी दृष्टि बनाये होंगे।

ज्ञानसे ही संभाल— भैया! ससारकी परिस्थितियोंसे बचकर कहां जायें? यहा जो अपने ज्ञानको और वैराग्यको सभाल सकता है उसकी ही विजय है। जैसे यहां गृहस्थीमें रहकर कोई यह सोचे कि इतना उद्यम करलें इतने धनका अर्जन करले, बच्चोंको इतना पढ़ा लिखा दें, इनकी शादी करदें तब निश्चिन्त हो जायें, फिर खूब धर्मसाधना करेंगे, तो वह कभी निश्चित हो ही नहीं सकता। क्या करें, धन कमा लिया, फिर इच्छा होगी कि इतना और कमा ले, धन कमा लेनेके बाद उसकी रक्षा करना है। लड़केकी शादी करदो, लड़की की शादी करदी, फिर किसी लड़का या लड़कीकी शादी करना है। अभी एक नातीकी शादी कर ली, फिर दो साल बाद एक नाती हो गया। फिर उसकी शादी करनेकी बारी आयी। एक सालमें ही लड़के पैदा होनेका हिसाब एक घरमे ही लगा लो किसीके ५–६ लड़के हों तो एक का एक लड़का हुआ, फिर एक साल बाद दूसरेके लड़का होनेका नम्बर आयेगा। अब बतलावो कब निवृत्त होंगे? तो बाहरमें हम परिस्थितियोंको इस प्रकार बना लें तब आरामसे निर्विघ्न निश्चित होकर धर्मसाधना करेंगे यह सोचना बिल्कुल व्यर्थ है।

धर्मसाधनार्थीका कर्तव्य-- जिसके धर्मसाधनाकी मंशा हो, कैसी ही विकट आजकी परिस्थिति हो उस परिस्थिति में भी अपना समय अपना उपयोग धर्मसाधनामे लगाएँ। यह बात तो है सच्ची और इतना संचय करलें, यह करलें ऐसा सोचना है बिल्कुल झूठ। रात्रिके समय अष्टाह्निकामें अरहदास सेठकी ७ सेठानी बातें कर रही थीं। सम्यग्दर्शनकी कथा हो रही थी। सम्यग्दर्शन मुझे इस तरह हुआ। तब सबने कहा बिल्कुल सच। छोटी सेठानी कहे बिल्कुल झूठ। दूसरी सभी सेठानी कहें बिल्कुल सच। वे सभी बातें पीछे खड़ा-खड़ा राजा सुन रहा था। राजा सोचता है कि यह कथन तो हमारे सामनेका है, फिर यह छोटी सेठानी झूठ क्यों कहती है? सोचा कि कल न्याय करेंगे। सेठानीके घर भरको राजाने बढे

आदरसे बुलाया। राजा ने छोटी रानीसे पूछा कि बतावो बेटी, रात्रिको जो सम्यग्दर्शनकी कथा हो रही थी उसमें सभी सेठानियों ने तो कहा बिल्कुल सच और तुम कह रही थी बिल्कुल झूठ। तो बताओ क्या बात थी? छोटी सेठानीने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। सारे गहने अपने उतार दिये, सारे कपड़े उतारकर केवल धोती पहिनकर चल दी, और कहा कि महाराज सच तो यह है। जगलको चल दी।

अन्त पुरुषार्थकी आवश्यकता-- सो भाई! गप्पोंसे पेट नहीं भरता, यह बात तो जल्दी समझमें आ जाती है क्यों कि पेटमें तो ऐसा खलबली सी मचती है। तो यह बात समझमें जल्दी आ जाती है। ज्ञानवृत्ति द्वारा ज्ञानको लक्ष्यमे लें, महान् पुरुषार्थ जगे तो शांति मिलती है, बातोंसे शांति नहीं मिलती है। इसका नाम बात रखा है। बड़ा अच्छा नाम है। बात हवाको भी कहते हैं। बाते करना मायने हवाके घोड़े उड़ाना अथवा बात करना मायने हवा जैसी बातें छूटना तो बातोंसे काम नहीं बनता। जो मार्ग बताया है उस मार्गसे चलें तो शांति प्राप्त होती है अन्यथा नहीं।

गप्पोंसे सिद्धिका अभाव-- अभी यहासे कोई ग्वालियर जा रहा हो तो कोई सेठानी उससे कहे कि देखो हमारे मुन्नाको एक खेलनेको पंच का जहाज ले आना, फिर कोई दूसरी सेठानी कहे कि हमारे मुन्नेको खेलने को रेलगाड़ीका इंजन ले आना, कोई सेठानी कहे कि हमारे नन्हें मुन्ना को खेलनेकी मोटर ले आना। इसी तरह दसों सेठानी आकर उससे कुछ न कुछ लानेको कहें, और एक कोई बुढिया उसे तीन नये पैसे नकद देकर कहे कि हमारे मुन्नाको एक मिट्टीका खिलौना ले आना। तो वह कहेगा कि बुढिया मा मुन्ना तो तेरा ही खिलौना खेलेगा और सभी सेठानियों ने तो गप्प मार दी है। उनके मुन्ना खिलौना नहीं खेल सकते। सो उपयोग वही आनन्दमग्न होगा जिस उपयोगने अपने आत्मस्वरूपको लक्ष्य में लिया है, ज्ञानस्वरूपको जिसने ज्ञानमें लिया है वही उपयोग आनन्दमयी हो सकेगा, बाकी तो सब बातें हैं।

परिणमनोंकी योग्यतायें-- जिसने किया उसने ही भोगा, यह भी सत्य है। किया दूसरेने, भोगा दूसरे ने यह भी सत्य है। जैसे कोई बालक छोटी उमरमें ही बी० ए० पास हो गया तो भी उसका खेलना दौड़ना कूदना फादना बच्चेकी तरह ही होगा। अब कोई कहे कि अरे तुम बी० ए० हो गए, अब तो बडे बाबूजी की तरह रहा करो, तो वह क्या करे, बचपन ही तो है। और वही पुरुष जवान हो जाय तो कहो कि उसी तरह बच्चों जैसा खेलो कूदो, दौड़ो तो वह वैसा नहीं कर सकता है। ये जो वृद्ध बैठे

हैं ये भी कभी बच्चे थे, आजके बच्चोंसे बढ़िया बच्चे थे। अब बच्चोंका उतना लाड़ प्यार नहीं रहा जितना कि पहिले था। अब इन बूढ़ोंसे कहो कि वैसी ही क्रियाएँ करो जो बचपनमें करते थे--खेलते कूदते थे, निर्विकार रहते थे, वैसी ही क्रियाएं अब भी करो, तो वे अब कहांसे वैसी क्रियाएँ करें ?

द्रव्यपर्यायमय पदार्थमें एकान्तके आशयका मिथ्यापन— इस एक भवमें ही बाल्यावस्थामें लगाए हुए पेड़का फल जवानीमें भोगने को मिलता है। किसी ने बचपनमें कोई पेड़ लगा दिया तो वह पेड़ १० वर्षके बादमें तैयार होगा, फिर उसमें फल आयेंगे। तो भवान्तरकी अपेक्षा भी यह बात है कि मनुष्य ने किया और देव पर्यायने भोगा, तो करने वाला और है, भोगने वाला और है। तो ऐसा एकांत मान ले कोई कि नहीं भाई जो करता है सो भोगता है, अथवा ऐसा एकात मान लिया कि करने वाला और है, भोगने वाला और है तो उसे मिथ्यादृष्टि ही समझना, क्योंकि जब एकांतसे नित्य कूटस्थ अपरिणामी टकोत्कीर्णवत् निश्चल यह पुरुष है तो उसका परिणमन तो हो ही नहीं सकता। मनुष्यसे देव बनना तो उसके होता ही नहीं है। वह तो वहीका वही है तो फिर कर्ता भोक्ता बने कैसे ? अथवा मोक्षका भी साधन वह क्या करेगा? वह तो कूटस्थ अपरिणामी है।

कूटस्थताका तात्पर्य— भैया ! कूटस्थ मायने क्या हैं कि जो लुहार की दुकानमें धौंकनी लगी रहती है, उसके आगे एक लोहेका बड़ा चौड़ा मजबूत डंडा गड़ा रहता है जिस पर गरम लोहा धरकर कूटा जाता है उसका नाम है निहाई। तो आप देखो कि गर्म लोहेको उस पर रख लिया और समसोसे पकड़ लिया। कूटने वाले तीन लोग खड़े हो गए। बारी बारीसे धमाधम कूटते हैं, उस समय कूटने वालोंके हथौड़े भी बड़ी तेजीसे चल रहे हैं, जो लोहा कुट रहा है वह भी खूब परिणमन कर रहा है, समसी भी अपनी क्रियाएँ कर रही है, पर निहाई महारानी एक जगह जहां की तहां धरी है। जरा भी नहीं हिलती। तो जैसे वह निहाई कूटस्थ है कहीं परिणमन नहीं करता, इसी तरह जिसका आत्मा कूटस्थ है, रंच भी परिणमन नहीं करता। कहते हैं कि जब परिणमन ही नहीं है तो वहां करने और भोगनेका सवाल ही नहीं उत्पन्न होता। मोक्षका साधन काहे करना ?

एकान्तके हटमें आपत्ति-- अच्छा तो इस अपरिणामीपन का एकान्त माननेमें यह दोष आया और जो सिद्धान्त ऐसा मानते कि करने वाला और है, भोगने वाला और है, सर्वथा भिन्न है, तो जैसे मनुष्यभवमें

पुण्यकर्म किया, इस पुण्यकर्म का देवलोकमें अन्य कोई भोक्ता हुआ तो बिना ही करे दूसरा भोक्ता हुआ तो ऐसी हमें क्या गर्ज पड़ी कि तपस्यामें तो हम मरें और देव बनकर दूसरा आत्मा मौज लूटे। मुनि तो साधु बने और कर्म कट जाने पर दूसरा मौज लूटे। कहते हैं कि करने वाला और भोगने वाला बिल्कुल भिन्न है तो समझ लो कि वहा कुछ व्यवस्था नहीं रह सकती। इस तरह सामने दो पुरुषोंका जवाब दिया जा रहा है। जो नित्य अपरिणामी मानता है उसके यहा क्या आपत्ति आती है और जो सर्वथा क्षणिक न्यारा-न्यारा मानता है उसके क्या आपत्ति आती है?

असत्की उत्पत्तिमें आपत्ति— भैया! सीधा हम यह भी कह सकते कि जब न्यारा न्यारा आत्मा पैदा होता है तो यह क्या वजह है कि उस ही शरीरमें जो नया आत्मा पैदा हो वह पहिलेके किए हुएका भोगने वाला बने? कभी नहीं हो सकता कि आप करने वाले हो जाएँ और हम भोगने वाले बन जाएँ, क्योंकि हम आपसे भिन्न हैं, और एक शरीरमें भी जो नये-नये आत्मा बनते हैं वे भी भिन्न हैं। इस कारण यह बात नहीं बनती है कि करने वाला और है और भोगने वाला और है। एक समाधान इसमें यह कहते हैं वे क्षणिकवादी हैं, भाई एक शरीरमें जो नये नये आत्मा बनने हैं उनमें तो यह बात बन आती है कि एककी की हुई बातको दूसरा भोग ले। जैसे एक दीपककी नई-नई बूँदें जलती हैं तो वहा संतान बन जाते हैं पर भिन्न-भिन्न दीपकोंमें उन बूँदोंमें संतान नहीं बन सकते। किन्तु यह बात भी ठीक नहीं बैठती। कारण यह है कि इस जगत्में कोई भी वस्तु ऐसी नई पैदा नहीं होती, जिसका उपादान कुछ न हो और हो जाय। असत् चीज पैदा नहीं होती। असत् चीज पैदा होने लगे तो कहो यहा १०, २० सिंह अभी पैदा हो जायें। और हम आप सभीको यहासे भागना पड़ेगा, पर कैसा विश्वास है कि यहा सिंह पैदा ही नहीं हो सकते। क्योंकि न यहा सिंह है और न सिंहनी है। कुछ भी हो, असत् चीज कभी पैदा नहीं होती। तो यह वस्तुकी व्यवस्था है कि जो सत् है वही अपनी नई नई अवस्था बनाता है।

शुद्धताके आशयमें गमनका चिन्तन— तो यहां यह प्रकरण बताया है कि तुम अपने आत्माका यह निश्चय करो कि मेरा आत्मा वही है जो पहिले था, किन्तु अवस्था पर्यायें नई-नई बनती रहती हैं, ऐसा नित्यानित्य स्वभावरूप यह मेरा आत्मा है। अब इस आत्माकी शुद्धताका लोभ लग गया सबको। क्या जैनोंको इसका लोभ नहीं है? पर अपरिणामवादियोंने इस आत्माको इस ढंगसे शुद्ध माना है कि वह परिणमता ही नहीं है तो

अशुद्ध क्या बनेगा और क्षणिकवादियोंने आत्माको इस तरह शुद्ध माना है कि यह एक समय रहता है दूसरे समय रहता ही नहीं, तो खोटा क्या बनेगा ? तो शुद्ध माननेके लिए दोनोंके अभिप्रायमें बेईमानी किसीके नहीं है पर स्याद्वादका मार्ग मिले बिना अपने लक्ष्य पर नहीं पहुंच सकते। अरे वस्तु वह एक ही है। द्रव्य दृष्टिसे देखो तो यह शाश्वत शुद्ध है, पर्यायदृष्टि से देखा तो यह अभी अशुद्ध है और अशुद्ध मिटकर कभी शुद्ध भी बन सकता है, यह यहां इस प्रकरणका निष्कर्ष है।

शुद्धताके लोभमें सत्त्वका भी विनाश— पहिले यह प्रकरण चल रहा था कि जीव अपरिणामी है। जीवमें किसी भी प्रकारकी कोई तरग नहीं होती। तब क्षणिकवादमें जहां जीव अपरिणामी बताया गया है, न माननेपर क्षणिक वादियोंको यह दीखता है कि यह जीव नित्य बन जायेगा, कई समयोंमें रहने वाला बन जायेगा तो इसमें कालकी उपाधि लग जायेगी। शुद्ध देखनेका ध्येय अपरिणामवादियोंका भी है, शुद्ध देखने का ध्येय क्षणिकवादियोंका भी है, अपरिणामवादी जीवको निस्तरग देखने में शुद्धका सन्तोष करते हैं और क्षणिकवादी एक ही समय रहते हैं पदार्थ, जब दूसरे समय नहीं रहते हैं तो उसमे अशुद्धताकी बात ही क्या करें, इस तरहसे अधिक शुद्ध माननेका यत्न करते हैं। सो इस चैतन्यको क्षणिक मानकर शुद्ध ऋजुसूत्रनयसे प्रेरित होकर इन क्षणिकवादियोंने आत्माका ही त्याग कर दिया।

निरंशवादका सिद्धान्त— यहां एक बात खास जाननेकी यह है कि जब तक उनका पूरा सिद्धान्त जाननेमें नहीं आये तब तक ऐसा लगता है कि इसने कुछ कहा ही नहीं है। क्षणिकवादी केवल पदार्थको एक समय वर्ती मानते हैं। इतना ही नहीं, किन्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें से यहा कालका निरंशपना है। उनका सिद्धान्त है कि पदार्थ द्रव्यसे निरंश है, क्षेत्रसे निरंश है, कालसे निरंश है, भावसे निरंश है। कालसे निरंश होने का अर्थ है क्षणिक होना, एक समय ही रहना और द्रव्यसे निरंशका अर्थ है अविभाज्य एकात्मक होना। शक्तिका पुञ्ज नहीं है, पर्यायका पिण्ड नहीं है; गुण पर्यायका पिण्ड मानने पर द्रव्यका निरंश नहीं रह सकता। तो द्रव्य भी निरंश है, अर्थात् एकात्मक है, अनन्तगुणोंका पिण्ड नहीं है। क्षेत्रसे निरंश होनेका मतलब है कि प्रत्येक द्रव्य एकप्रदेशी है, क्षेत्रसे उसका अंश नहीं है, बहुप्रदेशी नहीं है। यदि बहुप्रदेशी बन गया तो उसमें निरंशपना नहीं रहता। निरंशपना ही परमार्थ तत्त्व है, यही तो निरंश वादियोंका मूल सिद्धान्त है।

निरंशताके एकान्तमें आत्मविनाश— भैया ! निरंशताका तो आप भी आदर करते हैं। जब प्रभुकी पूजा करते हो तो कहते हो कि हे प्रभु ! तुम निरंश हो। यहां निरंशका भाव है अवाणु शुद्ध। कालका निरंशपना है एक समयमात्र ही पदार्थका रहना, और भावका निरंशपना है वस्तुका स्व लक्षण मात्र होना। पदार्थका कोई भी लक्षण, चिन्ह, परिचय, मुखसे नहीं कह सकते। जो मुखसे कहते हैं यह सब व्यवहार है। परमार्थतः जो सत्य है वह स्वलक्षणमात्र पना है। इस प्रकार चारों दृष्टियोंसे पदार्थको निरंश मानने वाले निरंशवादी पदार्थको क्षणिक मानकर कर्तृत्व भोक्तृत्व की एकताका निराकरण कर रहे हैं। सो और इसी स्थितिमें उन्होंने आत्मा ही छोड़ दिया। जैसे मालासे सूत टूट जाय तो उसकी सभी गुरियां ग्रहणमें नहीं आ सकतीं, इधर उधर बिखर जाती हैं। माला ही छूट गयी। माला क्या रही ? इसी प्रकार द्रव्य अंश अपरिणामित्व भावका त्याग कर देने पर आत्मा ही छोड़ दिया गया।

वस्तुस्वरूपका चिन्तन— खैर ! इन गहरी चर्चावोंमें नहीं जाना है। कर्ता और भोक्तामें भेद है या नहीं ? कुछ भी हो भेद हुआ तो कर्ता अन्य है, भोक्ता अन्य है। अभेद हुआ तो जो कर्ता हैं वही भोक्ता है। सो चाहे जो हो, वस्तुके स्वरूपका पहिले विचार करिये। यह चेतन पदार्थ वास्तवमें क्रियात्मक है और एक वैज्ञानिकके ढंगसे आत्माका विचार करो, उत्पादव्यय ध्रौव्यता निरखो और उसमें भी अपने आपका सत्व एक ध्रौव्यरूपमें निरखो कि यह मैं शाश्वत रहने वाला हू। समस्त गुण और समस्त पर्यायोंमें अन्वयरूप हू। यह मैं किसी प्रकार द्रव्यसे, क्षेत्रसे काल से और भावसे भेदा नहीं जा सकता हू। ऐसा अभेदस्वरूप अपने आपको देखो। जहां अभेदका एकात किया वहां भेदरूपमें देखो। जहा भेदमें एकात किया वहा अभेदरूपमें देखो तो किसी एकातका भ्रम उपयोगमें न फैलेगा।

अब इस कथनके बाद एक निर्णयात्मक बात कही जा रही है कि व्यवहार दृष्टिसे जब देखते हैं तो कर्ता और कर्म भिन्न-भिन्न नजर आते हैं। किया और ने, भोगा और ने, अर्थात् करने वाला और पर्याय था, भोगने वाला और पर्याय था। पर निश्चयसे वस्तुका जब चिंतन करते हैं तो करने वाला और भोगने वाला एक ही ठहरता है, अथवा कर्ता और कर्म एक ही ठहरता है। जो किया जिसने वे सब एकरूप हैं। इस द्रव्यके परिणमनको कर्म कहते हैं और परिणमनके आधाररूप द्रव्यको कर्ता कहते हैं। अब इसही प्रकरणको एक दृष्टांतके द्वारा समझाते हैं।

जह सिप्पिओ उ कम्मं कुव्वइ ण य सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवोवि य कम्मं कुव्वदि ण य तम्मओ होइ ॥३४९॥

परके द्वारा अन्य परकी क्रिया किये जानेका अभाव— देखिये झगडे जितने होते हैं वे इस अभिप्रायके झगडे होते हैं कि मैं दूसरेको कुछ कर सकता हू, या दूसरे ने मुझे कुछ किया है। बस इस आशयसे झगडे चलते हैं और वहा झगड़ा करने वालोंको देखो तो एक दूसरेका कुछ भी नहीं कर रहा है। झगड़ा करने वाले अपने आपमें ही मनकी, वचनकी क्रियाए करके रह जाते हैं। परमार्थत तो मन, वचन, काय भी आत्मामें नहीं। फिर भी सिवाय अपने हाथ फटकारनेके दूसरेमें तो कोई कुछ कर नहीं सकता। सिवाय अपने मनमें कुछ चिंतन बनानेके दूसरेका कोई कुछ कर नहीं सकता। अपनेमे ही जैसा भाव भर गया उसके अनुसार ही वचन निकले, इसके सिवाय दूसरेका और कुछ तो किया नहीं जा सकता।

शान्तिके लिये वस्तुस्वातन्त्र्यके श्रद्धानकी आवश्यकता— भैया! जो कुछ कोई करता है अपनेमें करता है, फिर यह रोष क्यों आ रहा है? इस कारण रोष आ रहा है कि भ्रम बन गया कि इसने मेरा बिगाड़ किया। अरे दूसरेने मेरा बिगाड़ नहीं किया। दूसरे ने अपने आपमे बुरा विचार बनाकर खुदका बिगाड़ किया, मेरा बिगाड़ नहीं किया। इस ज्ञान पर जब टिक नहीं पाते हैं तो अग्निके वेगकी तरह अन्तरमें प्रेरणा और ज्वाला उद्गत होती है। उसे नहीं सह सकते हैं। तो नाना क्रियाएँ करनी पड़ती हैं। इसलिए बड़ी अच्छी तरहसे जिंदगी बितानी हो, शातिसे रहना हो, सुख पाना हो तो यह श्रद्धान करो कि हम जो कुछ करते हैं, सो अपना करते हैं। हम दूसरेका कुछ नहीं करते। दूसरे जो कुछ करते हैं वे अपना करते हैं, मेरा कुछ नही करते। उदय ही हमारा खराब होगा तो हमारे बिगाड़में दूसरे निमित्त होंगे। सो हमें दूसरों पर क्या रोष करना? अपने पूर्व जन्मकी करनी पर रोष करो। अपने वर्तमान अज्ञान पर रोष करो। दूसरों पर रोष करनेसे कुछ नही निकलता बल्कि पापबध होता है, असाता वेदनीयका बंध होता है जिससे आगामी कालमें भी और क्लेश भोगने होंगे।

परके असम्बन्ध पर एक दृष्टान्त— इस प्रकरणमें एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ भी नहीं करता, यह सिद्ध करने के लिए एक दृष्टान्त दिया जा रहा है। जैसे सोनेका आभूषण बनाने वाला सुनार जब कि कुछ गहना बना रहा हो, उस समय बतलावो वह सुनार क्या करता है? क्या सोने को हलका बड़ा करता है? नहीं। वह तो केवल अपनी चेष्टा कर रहा है।

हाथ उठाया, नीचे किया, अगल किया, बगल किया, देखते जावो, वह अपने शरीरकी मात्र चेष्टा करता है, वह स्वर्णमें तन्मय नहीं हो जाता। तो जैसे स्वर्णकार केवल अपना काम करता है, सोनेका कुछ नहीं करता, इसी प्रकार यह जीव केवल अपना कर्म करता है, दूसरे पदार्थका कुछ नहीं करता। तो स्वर्णकार जैसे सोनेमें तन्मय नहीं हो जाता, इसी प्रकार यह जीव कर्ममें तन्मय नहीं हो जाता।

एकको परसे अतन्मयता-- कभी दो की लड़ाई हो रही हो तो उन्हें यह देखते जावो कि वे दोनों अपने आपमें ही अपना परिणमन कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त एक दूसरेका कुछ सम्बन्ध नहीं है। पर देखो तो सही कि परको अपने लक्ष्यमें लेकर और अपने विकल्प बनाकर ये किस किस प्रकार अपना रोष बढ़ा रहे हैं ? निरखते जावो। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें तन्मय नहीं होता। इसके समर्थनमें इस सर्व विशुद्ध अधिकारमें सर्व प्रथम पहिली ही पक्तिमें यह बात कह दी गयी थी कि प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायसे तन्मय होता है, अर्थात् दूसरे द्रव्यकी पर्यायसे तन्मय नहीं होता। इसका अर्थ यह निकला कि एकद्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता नहीं है। जो है वह अपना ही कर्ता है।

कर्ताकी साधनोंसे अतन्मयता— अब यहा कोई यह शंका करे कि खैर सुनारने सोनेको तो नहीं बढ़ा दिया किन्तु उस हथौडेके द्वारा तो बढ़ा दिया ना, जो हथौड़ा सोनेकी डली पर चोट कर रहा है उसके द्वारा तो सोना बढ गया ना, तो उसके उत्तरमें कहते हैं।

जह सिप्पिओ उ करणेहिं कुव्वइ ण य सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो करणेहिं कुव्वइ ण य तम्मओ होइ ॥३५०॥

जैसे स्वर्णकार किसी साधनाके द्वारा जो कुछ भी कर रहा है व्यवहारदृष्टिमें, वहा देखो तो वह साधनमें तन्मय नहीं हो रहा है। वह कलाकार केवल अपनेमे ही तन्मय है, अपने ही साधनमें तन्मय है, अपने ही कर्ममें तन्मय है, सर्वत्र भिन्न है। अपने-अपनेमें अपना काम हो रहा है। यदि कोई ऐसी गोली खा ले कि शरीर न दीखे, जैसे पुराणोंमें आया कि ऐसा अजन लगा लिया कि उसका शरीर ही नहीं दिखता था और वह पुरुष हथौड़ा लेकर घन पीटे तो दुनियाको ऐसा दीखेगा कि हथौड़ा कैसा ऊपरसे नीचेको गिर रहा है ? तो जैसे वहा दिखता है कि हथौड़ा ही अपना काम कर रहा है वैसी हो बात, ज्ञानीपुरुपको सर्वत्र दिखती है कि भाई निमित्त तो यह-पुरुष है पर सर्वद्रव्योंकी क्रियाएँ केवल उनमें ही अपने आपमें तन्मय होकर होती हैं। तो जैसे शिल्पी साधनके द्वारा कुछ कार्य

करते हैं पर उन साधनोंमें तन्मय नहीं होते, इसी प्रकार जीव मन, वचन, कायके साधनों द्वारा कार्य करते हैं पर वे उन करणोंमें तन्मय नहीं होते हैं, यहां यह बतला रहे है कि प्रत्येक द्रव्य केवल अपने आपका ही कर्ता भोक्ता है, कोई द्रव्य किसी दूसरेका कर्ता और भोक्ता नही है। फिर कोई शंका करे कि खैर साधन द्वारा भी कुछ नहीं किया इस स्वर्णकारने, किन्तु अपने साधनको ग्रहण तो किए हुए है, हाथमे हथौड़ा वह स्वर्णकार ही तो लिए हुए है। उसके उत्तरमें कहते हैं—

जह सिप्पिओ उ करणाणि गिण्हइ ण य सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवोवि य करणाणि गिण्हइ ण य तम्मओ होइ ॥३५१॥

व्यवहारसे गृहीत साधनोंमे तन्मयताका अभाव— जैसे शिल्पी करणोंको ग्रहण करता है, पर उन करणोंमें तन्मय नहीं होता है इसी प्रकार यह जीव भी करणोंको ग्रहण करता है पर किसी करणमे साधनमे तन्मय नहीं होता है। यहा कर्तापनके प्रसगमें एक द्रव्य केवल अपने ही परिणमन का कर्ता है, यह सिद्ध किया गया है। मोही जीवोंके केवल एक ही यह भ्रम है जिसके आधार पर कर्ता और भोक्तापनको भ्रम लग गया है। वह भ्रम है पर्याय बुद्धिपनेका अर्थात् जिस समय जो अपना परिणमन होता है उस परिणमनमें आत्मद्रव्यको स्वीकार करना यह ही मैं हू, जहां अपनी पर्यायमे अहंपनेका भ्रम हुआ वहा फिर और सम्बन्ध बनाना, कर्ता भोक्ताके ख्याल आना, इष्ट अनिष्टकी बुद्धि जगना--ये सब आपत्तिया आने लगती हैं इस कारण सर्व प्रकारकी आपत्तियोंसे मुक्त होना है तो मूल भ्रम मिटानेकी आवश्यकता है।

आपत्तियोंका मूल स्रोत पर्यायबुद्धिरूप भ्रम— मूल भ्रम यह पड़ा है कि जीव अपने स्वभावको लिए ध्रुवस्वरूप है, उस ध्रुव स्वरूपको अंगीकार नहीं करता, जो वर्तना हुई, परिणति हुई उस परिणतिको ही आत्मसर्वस्व मानता है। फिर जहा रागद्वेषको माना कि यह मैं हू तो रागद्वेषके कारण जो समागम मिला, निकट समागम, शरीरका समागम इनको मान लिया कि यह मैं हू, जब शरीरको मान लिया कि यह मैं हूं तो इस शरीर के जो साधक है उनको मान लिया इष्ट और जो शरीरके विराधक हैं उनको मान लिया अनिष्ट, तब जगत्मे इष्ट और अनिष्ट उसे दिखने लगे। जहा इष्ट अनिष्टका ख्याल चला वहा अनेक विपत्तिया आने लगती हैं और यह जाल ऐसा बढ़ जाता है तथा उछलता जाता है कि फिर यह चिरकाल तक भी हट नहीं पाता है। एकको इष्ट मानने पर अनेकको अनिष्ट मानना पड़ता है और इस तरह इष्ट और अनिष्टकी मान्यताकी परम्परा बढ़ती

रहती है, और इस इष्ट अनिष्टके द्वन्द्वमें यह जीव अपना अमूल्य समय बरबाद किए चला जा रहा है।

कल्याणके सुअवसरकी उपेक्षाका अनौचित्य— भैया! जरा सोचो तो सही, जीवकी जितनी पर्यायें होती हैं उन सब पर्यायोंमें अपने आपकी छटनी तो करलो कि कितनी उत्कृष्ट परिणति हमने पायी? ये कीड़े मकौड़े पेड़ पौधे पृथ्वी जल आदि सब केवल क्लेश भोगनेके लिए रहते हैं, उनमें विवेक नहीं, उनमें बुद्धि नहीं। ये अपना कल्याण करनेका यत्न कर नहीं सकते और भी ऊपर चढ़कर देखें तो पचेन्द्रिय जीवोंमें अनेक पशु हैं, अनेक पक्षी हैं, उन पशु, पक्षियोंकी क्या हालत है? उनमें विवेक नहीं जगता, वे अपना आत्महित करनेमे समर्थ नहीं हैं, केवल एक मनुष्यभव ऐसा है कि जिस भवमें चाहें तो हम सदाके लिए सकटोंसे छूटनेकी बात बना सकते हैं। पर मोहका ऐसा नशा पड़ा हुआ है कि यह नहीं बनाना चाहता है अपने कल्याणका मार्ग। ये नि सार बाह्य पदार्थ ही जंच रहे हैं इस मोहीको अपने हित रूप। वे इन्हींमें लगते हैं, इन्हींको अपना मानते हैं।

दुर्लभ समागमकी उपयोगिता— देखो भैया! ऐसी उत्कृष्ट स्थिति पायी, तिस पर भी हम अपना क्या उपयोग कर रहे हैं? इस बातमें अपन को कुछ खेद अवश्य होना चाहिए। और कभी तो इन्द्रियोंको सयत करके इन कल्पनाओंको बद करके अपने आपमें एक अपने सहजस्वरूपके दर्शन का प्रयत्न करना चाहिए। जब तक अपना ज्ञानमय स्वरूप अपने आपमें विदित न होगा तब तक हम कल्याणका मार्ग न पा सकेंगे। बाहरमें कितनी ही हलचल मचा लें, कितनी ही मन, वचनकी चेष्टाएँ करलें, पर जब तक अपने आपमें अपना स्वरूप न टिकेगा तब तक हितके पात्र नहीं हो सकते। देव, शास्त्र, गुरुका अवलम्बन इसीलिए है कि हम बारबार उस शुद्ध देवका चिंतन करके अपने आपमें ऐसी भावना जगाएँ कि मैं भी देव हो सकूँ। गुरुका सग करके अपने आपमे ऐसी भावना जगाएँ कि जो उपाय ये करते हैं उन्हीं उपायों द्वारा हम भी मोक्ष मार्गमे बढें और शाति लाभ करें। इसीलिए ये सब सत्सग हैं और इन सत्सगोंसे इस देव, शास्त्र गुरुके समागमसे, स्वाध्यायसे, तत्त्वचर्चासे यदि हम अपने आपके हितकी ओर नहीं झुकते हैं, करते हैं व्यवहारधर्म और लगते हैं विषय-कषायोंमें तो इससे हमें उद्धारका कोई मार्ग न मिलेगा। सो बाहरी बातोंको उपेक्षित करके अपने आपके अपने स्वरूपको तकना चाहिए।

जह सिप्पि उ कम्मफलं भुंजदि गाय सो उ तम्मओ होइ ।
तह जीवो कम्मफलं भुंजइ ण य तम्मओ होइ ॥३५२॥

कर्ता व कर्मफलकी अभिन्नता— जैसे शिल्पकार स्वर्ण बनानेके प्रसंगमें वह भोग किसे रहा है ? अपनी चेष्टाके फलको, लेकिन व्यवहारी लोग कहते हैं कि जब वह आभूषण बना चुका तो उन्हें बाजारमें बेच दिया—१०-१२ रुपये मुनाफेमें मिल गए तो उनसे इसने भोजन किया, कपड़े पहिना, तो लोग कहते हैं कि इसने आभूषणके फलको भोगा। किसी राजाको भेंट किया तो उसे गाव इनाममें मिल गया, सो लोग कहते हैं कि इसने कुण्डल ग्रामादिक फलको भोगा, परन्तु बात यह है ही नहीं।

कर्मफलका कर्मकालमें ही उपभोग— जिस समय इसने चेष्टा की उसी समय उसने अपनी करनीका फल भोगा, बादमें नहीं भोगा। जो चेष्टा करते समयमें परिणाम बनाया उस परिणाममें जो कुछ सुख या दुःख रूप उसका संकल्प है उसको भोगा, गहनेको नहीं भोगा। विद्यार्थी लोग साल भर पढ़ते हैं और अन्तमें परीक्षा देते हैं, और परीक्षा देनेके १॥ माह बाद रिजल्ट आता है तो लोग कहते हैं रिजल्ट आने पर कि इस विद्यार्थी ने वर्ष भरकी पढाईका फल आज पाया। मारे वर्ष सिर मारा और फल पाया एक सेकेण्डमें, क्या ऐसा है ? जिस समय जो कार्य किया उस कार्य का फल उस बालकने उसी समय पाया क्योंकि कर्मफल भी भोक्तासे अभिन्न है।

भिन्न वस्तुके भोगनेका अभाव— शिल्पी गहने का फल नहीं भोग सकता। गहना तो भिन्न वस्तु है, वह तो जो परिणाम बनायेगा, जो यत्न करेगा, उसका फल भोगेगा अथवा व्यवहारमें जैसे लोग कहते हैं कि इस स्वर्णकारने उस गहनेके करनेका फल भोगा, पर वह उस गहनेके व्यवहारमें तन्मय नहीं होता। इसी प्रकार यह जीव कर्मका फल भोगता है परन्तु कर्मफलमें तन्मय नहीं होता। यहां तक इस प्रसंगमें क्या बात कही गयी कि जैसे शिल्पी स्वर्णकार कुण्डल बनाता है तो कुण्डल परद्रव्य है, कुण्डल परद्रव्यके परिणमन को करता है— सुनार, यह व्यवहार भाषाका वचन है और हथौड़ी आदि परद्रव्योंके परिणमनरूप साधनके द्वारा करता है और हथौड़ी आदिक परद्रव्योंके परिणमनरूप साधनको ग्रहण करता है, और जब उसे बेचेगा तो इनाममें गांव मिलेगा या फिर धन मिलेगा तो लोग कहते हैं कि ग्रामादिक परद्रव्यके परिणमनरूप कुण्डल करनेका फल भोगता है। ये सब व्यवहार वचन हैं। अज्ञान अवस्थामें ऐसी ही व्यवहार दृष्टि परमार्थ बन रही है, परन्तु यथार्थ बात क्या है

इसका अब आचार्यदेव निरूपण करनेका संकल्प करते हैं।

एवं ववहारस्स उ वत्तव्वं दरिसणं समासेण।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकयं तु जं होइ ॥३५३॥

निश्चयनयसे कर्ता, कर्म व कर्मफलका विवरण— यहां जो कुछ अभी तक वर्णन किया गया है यह व्यवहारनयका वक्तव्य संक्षेपसे कहा गया है। अब जरा निश्चयनयका वचन सुनिए कि इस प्रसंगमें सुनारने क्या किया अथवा जीवने क्या किया और क्या भोगा? निश्चयनयसे अपने परिणमनको तो कर्म कहते हैं और अपने ही परिणमनसे उत्पन्न हुआ अपनेमें जो प्रयोजन मिला, उसे फल कहते हैं। यह बात आगेकी गाथाओंसे बतायी जायेगी।

पदार्थके अस्तित्वका प्रयोजन क्या— वर्तमानमें कुछ प्रकरण प्राप्त प्रश्नका उत्तर देते चलें। ये दिखने वाले भौतिक पदार्थ किस लिए हैं इसका उत्तर बतावो। पुद्गल किसलिए सत् बना है, यह क्यों है और यह जीव क्यों सत् बना है? इस जीवका प्रयोजन क्या है? ये हैं, इसी होने के सम्बन्धमें पूछा जा रहा है। किसलिए ये हैं? यह चौकी किसलिए है, कोई लोग कहेंगे कि पुस्तक रखने के लिए है, कोई कहेगा कि पूजनके लिए है, कोई कहेगा कि घरमें चौकी न हो और त्यागियोंको जिमाना है तो उनकी थाली धरनेके लिए है। कोई कुछ कहेगा। बहुत सी चीजें ये सब किसलिए हैं। इसका सही उत्तर तो बतावो।

पदार्थके अस्तित्वका प्रयोजन— इसका सही उत्तर यह है कि वस्तु परिणमनेके लिए है, अपने आपमें परिणमनेके लिए है, आपकी पुस्तक धरनेके लिए नहीं है। आपके किसी भी प्रयोगके लिए नहीं है। वह है तो परिणमने के लिए है। उनका प्रयोजन केवल परिणमना है और प्रयोजन नहीं है।

वस्तुके परिणमनेका प्रयोजन— अच्छा, ये परिणमते किसलिए हैं? इसका क्या जवाब है? ये पुद्गल किस प्रयोजनके लिए नया नया परिणमन करते हैं पुराना परिणमन मिटाते हैं। ये ऐसा किसलिए करते हैं? इसका उत्तर है कि ये पदार्थ सब जो परिणमते हैं इनके परिणमनेका प्रयोजन मात्र इतना है कि ये बने रहें। इनकी सत्ता कायम रहे। इनकी सत्ता कायम रहे, इसके लिए इनका परिणमन हो रहा है। जो कोई भी पदार्थ जिस किसी भी रूप परिणमता है, प्रयोजनमात्र सत्ता बनाये रहना है। इससे आगे बाहरमें कोई प्रयोजन नहीं है। यह परमार्थदृष्टिकी बात है। व्यवहारमें तो अपनी अपनी वान्छावोंके अनुकूल पचासों उत्तर

देते हैं।

तो यहां शिल्पकारने कुण्डल बनाया, हथौड़े से बनाया। हथौड़ीको ग्रहण किया और कुण्डलके फलमें भोजन खाया। यह व्यवहारनयका कथन है। अब निश्चयनयकी बात सुनिए।

जह सिप्पिओ उ चिट्ठं कुव्वइ हवइ य तहा अणण्णो सो।
तह जीवो वि य कम्मं कुव्वइ हवइ य अणण्णो से ॥३५४॥

जैसे उस स्वर्णकारने अपनी चेष्टा की और कुछ नहीं किया, कुण्डल पर हथौड़ा नहीं चलाया, अपनेमें अपने परिणामके द्वारा भोग परिस्पंदकी चेष्टा की। कोई एक दूसरेसे लडे तो उस लड़ाई वालेने और कुछ नहीं किया, अपनेमें परिणाम बनाया और अपनेमें योगका परिस्पंद किया, इससे आगे उस लड़ने वालेने और कुछ नही किया। अपनेमें परिणाम बनाया और योगका हलन चलन किया। इसके आगे उसकी और कोई करनी नहीं हुई, पर अज्ञानीको इस निश्चयके मर्मका पता नहीं है। बाहरमें दृष्टि है तो उसके रोष बढ़ता है, राग बढता है और अंधेरेमें बढ़ता चला जाता है, अपनी इस स्वतन्त्रताका उन्हें भान नहीं होता। इस स्वर्णकारने उस समय भी केवल अपने आपमे चेष्टा की यह एक मझोला दृष्टान्त है, कहीं शिल्पी द्रव्य नहीं है, किन्तु जो शिल्पी है उसको द्रव्यके द्रष्टांतमें रखकर बोल रहे हैं। उस सुनारने क्या किया, अपने आपमें परिश्रम किया कि वह सोना भी बढा दिया? परिश्रम ही किया और वह अपने परिश्रम से अभिन्न है, कुण्डलकर्मसे अभिन्न नहीं है।

भोजनसे भोजननिर्माताका असम्बन्ध-- महिलाएँ रोटी बनाती हैं सभी जानते हैं रोटी बनाना। रोटी बनानेमें क्या क्या काम करना पड़ता है? एक घटा पहिलेसे आटा साना, फिर तत्काल भी एक बार गूनकर खूब मुलायम कर लिया। यह सब व्यवहारमें दिख रहा है। पहिले जरासा आटा तोड़ लिया, उसे गोल मटोल लोई बनाकर पटलेपर उसे बेल लिया। बेलना घुमाकर उसे गोल कर लिया, यह दिख रहा है कि महिला सब कुछ कर रही है। उस गोल मटोल आटेको लम्बा गोल बनाकर तवे पर पटक दिया। पहिली पर्त बड़ी जल्दी उठा लिया ताकि उसमें ज्यादा आंच न ल। जाय। दूसरी पर्त जरा ज्यादा पका लिया, उसे एक दो बार गोल मटोल घुमाते रहते हैं। फिर उसे धधकती हुई आगमें डाल दिया वह फूलती है, यदि कहीसे हवा निकले तो चीमटेसे दबा दबा कर फुला दिया, पका लिया। कितने काम करती हुई वह महिला दिख रही है, फिर भी उस महिलाने रोटीमें कुछ नहीं किया। उसने तो अपने शरीरमे ही परिश्रम

किया और ऐसा परिश्रम करती हुई महिलाके हाथोंके निकट जो वह रोटी उपादान कनकपिंडी पड़ी हुई थी उसमें अपने आपमें क्रिया हुई। महिला ने तो उस समय केवल परिश्रम किया, रोटीमें कुछ नहीं किया, अपनेमें ही परिश्रम किया। उस परिश्रमके करनेमें पसीना आ जाय तो घूंघटसे ही उसे पोंछ लिया, तब देखो परिश्रम ही परिश्रम तो उसने किया। रोटीसे उस महिलाका तो कुछ सम्बन्ध ही नहीं है। वे तो सब भिन्न चीजें हैं।

उपदृष्टान्तपूर्वक दृष्टान्त व दृष्टान्तका विवरण— तो जैसे महिलाने रोटी बनानेके प्रसगमें केवल अपना ही परिश्रम किया, रोटीमें कुछ नहीं किया, इसी प्रकार इस शिल्पीने आभूषण गढ़ते समय केवल अपनेमें परिश्रम किया, स्वर्णमें कुछ नहीं किया। इसी प्रकार इस जीवने भी जो कर्म किया सो अपने साव कर्मरूप कर्मका किया। न द्रव्यकर्मको किया और न इस आश्रयभूत परपदार्थका कुछ किया। उस समय वह जीव अपने भावकर्मरूप कर्मसे अभिन्न है। अन्य पदार्थ जो द्रव्य कर्म हैं या आश्रयभूत पदार्थ हैं उनसे भिन्न है। चूँकि सुनार और स्वर्ण ये दोनों भिन्न द्रव्य हैं, इस कारण भिन्नता होने से सुनार स्वर्णमें तन्मय नहीं हो जाता। केवल निमित्त-नैमित्तिक भावमात्रसे ही वहा पर कर्ता कर्म भोक्ता भोग्यपनेका व्यवहार होता है। इसी प्रकार यह आत्मा भी पुण्य पापरूप पुद्गलके परिणमनको करता है ऐसा कहना व्यवहारनयसे है। पुण्य पाप तो भिन्न वस्तु हैं ? भिन्न वस्तु भिन्न वस्तुका क्या करे ?

भिन्न वस्तुमें कर्ता, कर्म व भोगका अभाव— भैया! विभावोंकी रचनामें निमित्त नैमित्तिक भाव तो है। वेबुनियादकी झूठी बात नहीं है। कुछ तो है बुनियाद, मगर उस बुनियादसे ऐसा आगे बढ़े कि असली मर्म का ज्ञान न रखा और उपादान उपादेयको कर्ता कर्म माना जाने लगा। यह आत्मा मन, वचन, कायके द्वारा पुण्य पापको करता है, यह व्यवहार वचन है। मन, वचन, काय ये तीनों आत्मासे भिन्न हैं, पुद्गलद्रव्यके परिणमनरूप हैं। अथवा करणोंके द्वारा किया और करणोंको ही ग्रहण किया। मन, वचन, कायको लिए लिए फिरते हैं। चलते फिरते बिस्तर बनाए पिंडोला बनाए। यह जीव मन, वचन, कायको ग्रहण करता है और उसके फलमें सुख दु ख आदिक पुद्गलद्रव्यके परिणमनको भोगता है जो कि पुण्य पाप कर्मके फल हैं ऐसा व्यवहारनयका कथन है, परन्तु ये पुण्य पाप कर्म और यह आत्मा ये एक द्रव्य नहीं हैं। ये परस्परमें एक दूसरेसे अत्यन्त भिन्न हैं, त्रिकाल भिन्न हैं। अत्यन्ताभाव है इसलिए ये तन्मय नहीं हो सकते।

स्वर्णकारने क्या किया और क्या भोगा-- जीव तो उसको करे जिसमें यह तन्मय हो, अन्यमें तो केवल निमित्त नैमित्तिकभाववश उनमें कर्ता कर्म भोक्ता भोगका व्यवहार किया जाता है। आत्माने अन्य कर्मको किया और आत्माने क्या कर्मका फल अन्य भोगा, ऐसा व्यवहार निमित्त-नैमित्तिक भाववश किया जाता है। वस्तुत: वहां बात यह है कि इस जीवने अपने योग उपयोगको तो किया और उस योग उपयोगके फलमें जो कुछ आनन्द गुणका परिणमन हुआ इसको इसने भोगा। जैसे कि उस चेष्टा करने वाले शिल्पीने चेष्टाके अनुकूल अपने परिणमनरूप कर्म बनाया, अपने परिणामरूप कर्म बनाया और उसी समय दु:खस्वरूप अपने परिणमनका चेष्टानुकूल फल भोगा। अरे गहना जब बिकेगा तब बिकेगा, उस समय तो वह दु:ख ही भोग रहा है। तो उसने उस स्वर्णके किए जानेका क्या फल भोगा ? अपनेमें ही उसने चेष्टा की और अपनेमें ही उस श्रमके परिणाममें दु:ख भोग लिया। दु:ख ही तो भोगा।

परिणाम परिणामीमें तन्मयता-- भैया ! परिणामपरिणामीभाव की अपेक्षासे देखा जाय तो जीव परिणामी अपने परिणाममें तन्मय होता है। सो वहां उस स्वर्णकारने अपनेको ही किया, अपनेको ही भोगा। वह सुनार ही कर्ता है, सुनार ही कर्म है, सुनार ही भोक्ता है, सुनार ही भोग्य है। इस प्रकार यह आत्मा जो कुछ करनेकी इच्छा करता है इसने अपनी चेष्टाके अनुकूल अपने परिणामोंरूप कर्मको किया और उस कालमें दु:खरूप जो अपने आत्माका परिणाम है उस फलको भोगा। चूँकि वह आत्मा और आत्माका वह परिणमन एक द्रव्य है, उसमें ही वह अभिन्न है, उसमें ही उस कालमें तन्मय है। सो परिणामपरिणामी भाव चूँकि एकमें होते हैं तो इस आत्मामें ही आत्माका कर्म हुआ और आत्मामें ही आत्माका भोग हुआ। बाहर आत्माने कुछ कर्म नहीं किया और न भोगा। ऐसा निश्चयनयसे प्रमाण करते हैं।

अपना कर्तव्य-- भैया ! इस कथनको सुनकर अपने आपमें कभी तो यह दृष्टि जानी चाहिए कि ओह मैं तो अपनेको करता हूं, अपनेको ही भोगता हूं। इस ज्ञानज्योतिर्मय अपने स्वरूपसे बाहर मेरा कहीं कुछ नहीं है। जो होता है वह यहां होता है। इसके ही परिणमनके अनुसार होता है, किसी दूसरे पदार्थ से मुझे भरोसा नहीं है, कोई दूसरा पदार्थ मेरे लिए शरण नहीं है। मेरे लिए मैं ही एक उत्तरदायी हूं। मेरा जिम्मेदार कोई दूसरा मनुष्य नहीं हो सकता। कोई दूसरा मुझसे राग करता हो तो वहां यह पूर्ण निश्चित समझना कि वह मुझसे राग नहीं करता

किन्तु वह अपनेमें अपने कषायभावके अनुसार अपनेमें ही रागपरिणमन करता है। उसके रागपरिणमनके विषयभूत हम हो गए। किस स्वार्थके कारण राग करता हो वह यह बात उसकी अलग है। मैं भी किसीसे राग नहीं करता। केवल अपने कषाय भावके अनुकूल अपना परिणमन बनाता हू और अपना परिणमन करके अपनेमें ही शात हो जाता हू। बाहर कहीं कुछ नहीं करता हू, ऐसी दृष्टि जगे तो आकुलता दूर हो।

आत्मानुभूतिका उद्यम— जैसे कोई बीमार आदमी हो, घरमें कोई चीज खाने को बनी हो और नुकसान करती हो, मगर बड़ी मीठी बनी हो जिसकी सुगध ही सूँघ करके मुँहसे लार बहने लगे, तो वह सोचता है कि यार अभी तो खा ही लें, पीछे देखा जायेगा। सो यह खाना तो बादमें कुछ अनबन करेगा परन्तु हम आप सब बीमारोंके लिए यहा एक बात कही जा रही है कि देखा जायेगा पीछे, घर मिल जायेगा, सब कुछ मिल जायेगा, एक आध मिनट को तो विकल्प छोड़कर सबका ख्याल भुलाकर जो होगा सो होगा, न मिलेंगे कपडे पहिनने को न सही, फटे पुराने मिले वही ठीक हैं। न अच्छा खाना पीना मिले, न सही, साधारण ही खाना पहिनना सही, जो होगा देखा जायेगा, एक आध मिनटको तो निर्विकल्प अवस्थाका आनन्द लूट लें। इस आनन्दके फलमें उस बीमार जैसा कटुक फल न मिलेगा। उसे अच्छा ही फल मिलेगा। इतना सहनशील अपनको होना चाहिए कि जो स्थिति गुजरे तो गुजरे, कम मिले खाना, कम मिले पहिनना। लोग न पूछें, इज्जत न करें, जो भी स्थिति गुजरे गुजरे, पर एक अपने सहज स्वभावके अनुभवका आनन्द तो लूट लो, जो होना होगा सो होगा।

मोहियोंका परस्परका व्यवहार— देखो भैया! यहां यदि कोई आदर भी करे तो समझो कि ज्वारी ज्वारीका आदर करते हैं। ये सब तो मोह मोहमें ही मस्त हैं और कोई विरला ही ज्ञानी आपका आदर करे तो वह तो इस ढगसे आदर करेगा कि जिस ढगमें आपको अभिमान उत्पन्न करनेका अवसर ही न आयेगा। अभिमान तो वहा होता है जहा अभिमानका आदर किया जाता है। यहा बात तो यों है कि—

'उष्ट्राणाम् विवाहेषु गीत गायति गर्दभा'।
परस्पर प्रशंसन्ति अहो रूपम् अहो ध्वनि।'

एक बार ऊँटका विवाह हुआ तो उसमें गाने वाले चाहियें थे। ऊँटों ने गाने के लिए गधाको बुला लिया। ऊँट गधोंसे बोले कि भाई हमारे यहा विवाह हो रहा है, सो तुम दादरे, गीत वगैरह गावो। मनुष्य लोग तो गाते

गाते रुक जायेंगे, पर वे गधे सांस खींचते और बाहर निकालते (दोनोंमें ही गाते हैं। तो गधों ने ऊँट दूल्हाके प्रति और ऊँट बरातियोंके प्रति गाया कि—धन्य है ऊँटो! तुम लोगोंका रूप कितना सुन्दर है? ऊँटोंका रूप सुन्दर तो नहीं होता, पाव टेढे, गर्दन टेढी, पीठ टेढी, सारा शरीर टेढ़ा, ऊँटका कोई भी अग सीधा नहीं होता। तो खूब गधोंने गाया कि ऐ ऊँटो तुम धन्य हो, कितना सुन्दर तुम्हारा रूप है? तो ऊँटोंने गाया कि धन्य हो गधो— तुम्हारा राग कितना सुन्दर है? तो जैसे गधोंने ऊँटोंकी प्रशंसा कर दी और ऊँटोंने गधोंकी प्रशसा करदी, वैसे ही एक मोही दूसरे मोही की प्रशंसा कर दिया करते हैं। दोनों ही झूठमूठ कह देते हैं।

गालियोंमें प्रशसाका भ्रम— भैया! लोग प्रशंसा क्या करते हैं गालिया देते हैं। पर लोग उसे प्रशसा समझ लेते हैं। जैसे कोई यह कहता है कि-साहब इनके ५ लड़के हैं। एक लड़का कन्ट्रेक्टर है, एक डाक्टर है, एक मास्टर है, एक मिनिस्टर है, एक कलेक्टर हैं। सो सभी अच्छेसे अच्छे पोस्टपर हैं। ऐसा सुनकर वह पिता मनमें खुश होता है कि हमारी प्रशंसा हो रही है। अरे ये बाते उसने गालीकी कही हैं। क्योंकि उसका अर्थ यह निकलता है कि लड़के तो एकसे एक ऊँचे ओहदे पर हैं, पर पिता जी कुछ भी नहीं हैं, कोरे बुद्धू हैं। सो यहां कोई किसीकी प्रशंसा नहीं करता, भ्रम कर करके सभी प्रसन्न होते रहे हैं। दूसरोंके लिए रात दिन मरे जा रहे हैं। उन्हींके लिए सारा श्रम कर रहे हैं।

अपनेमें अपना सर्व दर्शन— भैया! शान्ति चाहते हो तो इतना तो ध्यान रखो कि हर एक अपनेमें अपनी चेष्टा करता है, अन्य कोई मुझ में कुछ नही करता। तो जैसे शिल्पीका उस शिल्पीमें ही कर्तापन है, और भोग्यपन है, इसी प्रकार इस जीवका अपनेमें ही कर्तापन है, कर्म है, भोक्तापन है और भोग्यपना है। यह जीव न परका कर्ता है और न परका भोक्ता है, ऐसा ज्ञानी पुरुष निश्चय करते हैं। जिस पर अपना अधिकार नहीं है उस पर कुछ अपना विचार बनाना अपने अनर्थके लिये होता है। सो भैया! अपनेमें अपना सब देखो और अपनेमे अपने हितका उद्यम करो।

परिणामपरिणामीमें कर्तृकर्मभाव— जीवका जो परिणाम है वह तो है जीवका कर्म और उस परिणामका करने वाला जीव है कर्ता। परिणाम ही कर्म होता है और परिणाम ही कर्ता होता है। परिणाम उस परिणामीका ही है इसलिए कर्ता कर्म अभिन्न हुआ करते हैं। आपने भोजन किया तो बतावो कि आपके आत्माने क्या किया? इच्छा किया,

ज्ञान क्रिया और प्रदेश परिस्पन्द किया। भोजनको तो आप छू नहीं सकते। पकड़ भी नहीं सकते। भोजन मूर्तिक स्कंध है और यह ज्ञानानन्द स्वभावी अमूर्त पदार्थ है। भोजनका और आपका सम्पर्क ही कैसे हो सकता है? परन्तु इस पर्यायमें सभी का परस्परमें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। इस कारण यह सब हो रहा है, पर प्रत्येक वस्तुके स्वरूप पर दृष्टि देकर सोचो तो प्रत्येक पदार्थ मात्र अपने अपनेमें परिणमन करता है। भगवानके सामने खड़े होकर आप बहुत उच्चस्वरसे स्तुति गाते हैं, आसू बहाते हैं, काप उठते हैं उस समय भी आपने क्या किया? आप केवल प्रभुके गुणोंके अनुरागका परिणाम कर पाये, योग परिस्पद कर पाये और इसके अतिरिक्त आपने कुछ नहीं किया। अंग चल उठे, आंसू बह निकले, ये सब निमित्तनैमित्तिक भाववश हो गए। परिणाम परिणामीसे अभिन्न होते हैं।

परिणामीमें अन्य पदार्थोंका अप्रवेश— भैया! कोई भी कर्म कर्ता से रहित नहीं होता है। इसलिए उस वस्तुके प्रत्येक परिणमनको यही वस्तु करता है। यद्यपि निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धोको देखकर यह सब विदित हो रहा है कि कई पदार्थोंका साथ है और एक कार्यमें सहयोग है, लेकिन परिणमन वाले पदार्थके अतिरिक्त अन्य सब पदार्थ उस उपादानके बाहर बाहर लोटते हैं कोई किसीमें प्रवेश नहीं करता है। औरोंकी तो बात क्या यह जीव जब इन समस्त पदार्थोंको जानता है तो इसके ज्ञानमें ये समस्त बाह्य पदार्थ व्यवहारदृष्टिसे आ गए ऐसा कहते हैं। लेकिन सब कुछ बाहर बाहर बना हुआ है, ज्ञानमें कभी नहीं आता। ज्ञानमें ज्ञानकी वृत्ति आयी और कोई पदार्थ ज्ञानमें नहीं आया। इस जीवने अनादिकालसे सम्बन्ध दृष्टि बनाकर अपने आपका अस्तित्व अपनी कल्पनासे खो दिया और बाहर-बाहरके ही गुण गाया करता है। यह आत्मा अनन्त शक्तिमान् है। तो भी अन्य वस्तु किसी अन्य वस्तुमें प्रवेश नहीं करती है अत सब इस आत्माके बाहर ही बाहर लोट रहे हैं।

वस्तुकी स्वभावनियतताका नियम— प्रत्येक पदार्थ अपने अपने स्वभावमे ही नियत रहता है। अत खेदकी बात है कि यह जीव अपने स्वभावसे विचलित होकर आकुलित होता है, मोह रूप होता है, क्लेशको प्राप्त होता है। अपने इस स्वभावकी नियमकी श्रद्धा करे और कभी भ्रमरूप न हो कि मेरा किसी अन्यसे बिगाड़ हुआ या किसी अन्यका मैंने सुधार बिगाड किया है। ऐसी अविचलित पद्धतिसे यदि रह जाय तो फिर कोई क्लेश ही नहीं है। कोई भी वस्तु किसी अन्य वस्तुका गुण नहीं होता है।

जितने निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध भी हैं वे सब इस उपादानके बाहर ही बाहर होते हैं। जैसे किसीको तीव्र अनुराग हुआ तो वह चाहता है कि वह दूसरेसे एकमेक बन जाय मगर नहीं बन पाता। वस्तु स्वभावके नियम के आगे यह अज्ञानी मोही घुटने टेक देता है और खेद करता है कि मैं तो प्रेमी हूं, पर एकमेक नहीं हो पाता हू। कैसे हो ?

अन्यपर किसी अन्यके प्रेमकी असंभवता—भैया! प्रेमी भी कौन किसका है ? इससे बड़ा और आपको क्या उदाहरण मिलेगा, रामचन्द्रजी और सीताका कितना विशुद्ध प्रेम था लेकिन रामने सीताको जगलमें छुड़वाया और सीताने अग्निपरीक्षाके बाद रामके प्रति मोहबुद्धि भी नहीं की, अपने आत्महितमें उद्यमी रही। तो किसका क्या विश्वास हो ? राम लक्ष्मण जैसा आदर्श प्रेम देखो पर क्या करें श्री राम, क्या करे भाई लक्ष्मण, आखिर अलग होना पड़ा और कुछ अवाञ्छनीय घटनाके साथ अलग होना पड़ा। बड़े-बडे पुरुष भी अपनी इच्छानुसार समागम नहीं पा सके। लेकिन यह मोही जीव अपनी इच्छामें रंच भी अन्तर नहीं डालता। जो चाहूं सो हो। इच्छा हो जाय कि आज पापड़ ही खाना है इसी समय बने तो स्त्री कहती है कि हाथ पर आम तो नहीं जमते, कल पापड़ मिल जायेंगे। नहीं नहीं, हमें तो अभी खाना है। यदि नहीं खानेको मिले तो कहीं भाग जायेंगे। इसी समय इच्छाके अनुसार कार्य हो जाय। यह पुण्यके उदयमें ऐसा हठ करता है और मरणके बाद मिल गयी कीड़े मकौड़े की पर्याय तो जीव तो वही हो, अब यहां हठ कर लो। अब हठ क्या करेगा ? सामर्थ्यके समयमें गम खाये, शांति पाये तो उसका फल मधुर होता है अन्यथा समर्थहीन होने पर इसकी दुर्दशा ही होती है।

निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धमें एकका दूसरेमें अभाव—एक दूसरेका कुछ नहीं लगता है। एक दूसरेका क्या करता है ? सब बाहर ही बाहर लौट रहे हैं। केवल व्यवहारदृष्टिसे ही यह कहा जाता है कि एक पदार्थ ने अमुक दूसरे पदार्थका कुछ कर दिया ना। इससे बढकर और क्या उदाहरण लोगे कि जलते हुए चूल्हे पर पानी की बटलोई रख दी तो पानी तेज गरम हो जाता है तो आगने उस पानीको गरम कर दिया ना, इसे कौन मना करेगा ? एक ओरसे पूछते जावो, पर वस्तु सिद्धान्त करके कहते हैं कि आगने तो अपने आपको ही गरम किया और अपने आपमें ही वह जली और परिणमी। उसका सन्निधान पाकर पानी भी तो पुद्गल है, स्पर्श वाला है, वह भी अपनी शीत पर्यायको छोड़ कर उष्ण पर्यायमें आ गया। आगने जो कुछ किया अपनेमें किया, पानीने जो कुछ किया

अपनेमें किया। ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है कि अग्निका सन्निधान पाकर जल उष्ण हो गया।

किसी की गाली सुनकर जिसका कि नाम लिया जा रहा हो, संकेत किया जा रहा हो वह भडक उठे तो क्या गाली वालेने परमें रोष पैदा किया? अरे गाली वाले ने तो अपने में अपना परिणमन किया, दूसरेमें कुछ नहीं किया। वह तो बाहर ही लोट रहा है, पर इस दूसरेने इसका निमित्त पाकर अपनेमें कल्पना बनाकर आकुलता उत्पन्न करली। तो निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध तो है एक का दूसरे के साथ, पर कर्ता कर्म सम्बन्ध नहीं है। कहीं ऐसा भी नहीं सोचना कि एक पदार्थ दूसरेका कर्ता बन जायेगा, इसलिए निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धको उड़ा ही दें। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध तो बल्कि यह समर्थन करता है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थका कर्ता नहीं है। उसे उड़ानेकी जरूरत नहीं है।

भैया! केवल व्यवहारदृष्टिसे यह कहा जा रहा है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थका कुछ भी करता है निश्चयसे तो एक पदार्थ दूसरे पदार्थका कुछ भी नहीं करता है। उपादान स्वय ही अपनेमें ऐसी कला रखते हैं कि अनुकूल निमित्तको पाकर खुद अपनी वृत्तिसे विभावरूप प्राप्त हो जाते हैं। जैसे आप हम सब ऐसी कला रखते हैं कि बैठनेकी जमीनका निमित्त पाकर तखतका निमित्त पाकर अपनी परिणतिसे अपने आप ही इस प्रकार बैठ गये। जमीनने और तखतने हम आपमें क्या किया? कुछ भी नहीं किया। ये बाहर ही बाहर लोट रहे हैं। इस वस्तुकी स्वतन्त्रताका जब परिचय नहीं होता है तो दीन अनाथसा रहकर यह खेद करता है, आकुलित होता है। अब इस ही बातका समर्थन करनेके लिए कि एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, इसकी कुछ गाथाएँ कहेंगे।

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सडिया य सा होइ।
तह जाणओ ण दु परस्स जाणओ जाणओ होदि ॥३५५॥

परका परके साथ स्वस्वामीसम्बन्धका अभाव— जैसे खडिया एक पदार्थ है, जो भींत पर फैला दी जाती है, चूना कह लो। चूना जानते हो किसे कहते हैं? जिसे लगा देने पर चूवे नहीं। तभी तो चूनेकी छत डालते हैं। तो चूना एक पुद्गल स्कंध है और स्वय सफेदीके गुणसे भरा हुआ स्वभाव रखता है। लोग कहते हैं कि इस कलईने भींतको सफेद कर दिया। हम आपसे पूछते हैं कि भींतने क्या कलई को सफेद किया? यह सफेद दिखने वाली जो भींत है इसका और इस सेटिकाका क्या सम्बन्ध

है ? इस पर जरा विचार करे। यह सफेदी क्या भींतकी है ? सफेदी मीन्स सेटिका, खड़िया, चूना। सफेदी उस खड़ियासे चूनासे अलग नहीं है, तो क्या यह भींतकी है ? यदि यह सफेदी भींतकी हो जाय तो या तो भींत रहेगी या सफेदी रहेगी, किन्तु किसी द्रव्यका उच्छेद हो ही नहीं सकता। इस कारण परका परके साथ-स्वस्वामीसंबध नहीं है।

दृष्टान्तपूर्वक स्वस्वामिसम्बन्धके अभावकी सिद्धि—जैसे स्कूलमें किसी बच्चेकी किताब गुम जाय और किसीको मिल जाय तो एक बालक कहता है कि यह किताब किसकी है तो दो चार बालक बोल उठते हैं कि यह किताब कागजकी है। वह किसी लड़केकी नहीं है, लड़के लड़के हैं, किताब-किताब है। लड़केका तो आकार है, रूप है, गंध है। ये सब बातें लड़केकी लड़केमे हैं। तो जिसकी जो चीज होती है वह उसमें ही तन्मय होती है और वह एक होती है। सम्बन्ध नामकी चीज कुछ नहीं है। इसी लिए सम्बन्ध नामका कारक संस्कृत भाषामे नहीं माना। ६ कारक तो माने कर्ता, कर्म, कारण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण, सम्बन्धको नहीं माना। सम्बन्ध एक काल्पनिक चीज है, मान लिया कि यह चीज मेरी है। जिसे आप मानते हो यह मेरी है, वही पदार्थ जब दूसरेके अधिकारमे पहुच जाय तो अब उसका हो गया। तुम्हारा तो नहीं रहा। यह सफेदी यदि भींत की हो गयी तो फिर भींत ही रह गयी, सफेदीके द्रव्यका विनाश हो गया।

स्वतन्त्र वस्तुयोंमें स्वस्वामिसम्बन्धका अनवसर— ये दो अगुली हैं आस पास एक छोटी और एक बड़ी। यह छोटी अंगुली किसकी है, उत्तर दो ? इस बड़ी अगुलीकी है क्या ? अरे इससे तो कोई सम्बन्ध ही नहीं है। यह छोटी अगुली तो इस छोटी अगुली की ही है। तो इसी तरह अगुलीके अलावा जितने भी द्रव्य हैं उन सब द्रव्योंकी अगुली नहीं है। यह अंगुली किसकी है ? आप तो कहेगे कि तुम्हारी है। अरे हमें तुमने देखा है। हम क्या चीज हैं ? हम एक आत्मा हैं। वह आत्मा परद्रव्य है अगुलीसे। फिर मेरी अगुली कैसे हो गयी ? यदि हमें मानते हो ऐसे शरीरके आकार वाला तो उस शरीर आकारका यह एक अग है। उसमें व्यवहार दृष्टिसे भेद डाला है कि यह अगुली हमारी है। जैसे किसी वृक्ष मे चार बड़ी शाखाये हों तो उसे कहते हैं कि ये चार शाखाये किसकी हैं ? पेडकी हैं। तो पेड़ महाराजको तो यहीं धरा रहने दो और चार शाखावों को थोड़ी देरके लिए यहा भेज दो तो क्या यह हो सकेगा ? शाखावोंके बिना पेड़ कुछ न रहेगा। इसी प्रकार ये हाथ पैर पीठ पेट बतावो किसके हैं ? तुम्हारे हैं इसका कुछ अर्थ नहीं, यह तो एक भेदकी बात है। वस्तुत:

किसी पदार्थका कोई अन्य पदार्थ कुछ नहीं है।

सेटिका व भित्तिमें स्वस्वामिसम्बन्धका अभाव— यदि यह खड़िया भींतकी हो जाय तो खड़ियाका उच्छेद हो जायेगा। पर कोई भी द्रव्य किसी भी अन्य द्रव्यमें सक्रान्त नहीं होता इसलिए उच्छेद नहीं हो सकता। खड़िया खड़िया ही है, भींत-भींत ही है। अरे अभी जल्दी समझमें न आता हो तो उस भींतको जरा खुदेड़ दो, खड़िया नीचे गिर जायेगी और भींत काली कलूटी जैसी थी वैसी सामने आ जायेगी। तब मालूम पडेगा। ओह खड़िया अलग है और भींत अलग है। तो जब खड़िया अलग नहीं होती है तब भी भींत अलग है। तो यह खड़िया भींतकी नहीं हुई।

सेटिकाका परमार्थत· स्वामी— फिर भैया! खड़िया किसकी है? और विचार करो—हा हां कर लिया विचार। खड़िया किसकी है? खडिया खड़ियाकी है। तो वह दूसरी खडिया क्या है जिसकी यह खड़िया बन गयी? ऐसी कोई सफेद खडिया किसी दूसरी खड़ियाकी नहीं है। किन्तु एक स्व-स्वामीके अंशका ही व्यवहार है। दूसरी खड़िया कहा है, एक ही तो है। फिर एकमें स्व-स्वामीके सम्बन्धका व्यवहार क्या करना? उस से प्रयोजन क्या निकला? प्रयोजन तो कुछ नहीं। इसलिए यह निश्चय करना कि खडिया-खड़िया ही है वह किसीकी नहीं। तिजोरी-तिजोरीकी है और किसीकी नहीं क्योंकि तिजोरी किसी दूसरे द्रव्यकी तो बन नहीं सकती और तिजोरीकी तिजोरी है। ऐसा कहनेका कोई मतलब नहीं है। इसी दृष्टिसे सर्वपदार्थोंको निरखना कि ये समस्त पदार्थ किसके हैं? किसी के नहीं हैं।

ज्ञाता व ज्ञेय परद्रव्यका अत्यन्त पार्थक्य— इसी तरह जरा आत्मा में निरखो—यह ज्ञायक आत्मा, ज्ञाता आत्मा किसका है सम्बन्ध तो विचारिये जरा। कहते हैं लोग कि यह ज्ञाता मकानका है दुकानका है। आपने यदि इस चौकीको जान लिया तो क्या कहते हैं कि यह ज्ञाता चौकीका है। ज्ञाता यह आत्मद्रव्य चौकीका कुछ बन सकता है क्या? चौकी भिन्न द्रव्य है, भिन्न क्षेत्रमे है, भिन्न कालमें है, भिन्न भावको लिए हुए है। यह आत्माकी कैसे बन सकती है? यदि यह ज्ञाता चौकीका हो जाय तो ज्ञाताका उच्छेद हो गया, बस चौकी भर रह गयी। सो तो ऐसा होता नहीं कि ज्ञाताका ही उच्छेद हो जायेगा। दो न्यारी-न्यारी चीजें हैं। ज्ञातापुरुष और ज्ञेय चौकी।

स्वामित्व वर्णनमें अपमान— भैया! यह ज्ञेय चौकी बेचारी अजीव है, सो सारी गाली सुन रही है। सुनती नहीं है, अलंकारमें कह रहे हैं।

यह चौकी हमारी है ऐसा कहनेमें हमारा तो सम्मान हुआ, पर चौकीका अपमान हुआ। जैसे किसीने कह दिया कि यह आदमी तो हमारा है तो बतलावो कि सम्मान किसका हुआ और अपमान किसका हुआ ? सम्मान तो तुम्हारा हुआ और अपमान उस आदमीका हुआ। स्वामीका तो सम्मान होता है और जिसका स्वामी कहा जाय उसका अपमान होता है। यदि यह चौकी भी कुछ हरकत कर सकती होती तो यह भी कह बैठती कि यह आदमी मेरा है। आप कहते हैं यह मकान मेरा है। कह डालो १०-२० बार पर यह मकान भी यदि कुछ हरकत कर सकता होता तो यह भी कहता कि यह आदमी हमारा है। अरे जितना स्वतन्त्र यह मकान है उतना ही स्वतन्त्र यह आत्मा है। जीवका तो मकान कह डाला और मकानको जीव नहीं कहा। जब गड़बड़ ही करते हो तो खूब गड़बड़ करो। गड़बड़की कोई व्यवस्था भी है क्या ?

परद्रव्यका ज्ञातृत्व भी मात्र व्यवहार— ये समस्त पुद्गलादिकद्रव्य आत्माके व्यवहारसे ही ज्ञेय हैं। इन पुद्गलादिक ज्ञेय परद्रव्योंका यह ज्ञायक आत्मा क्या कुछ होता है या नहीं होता है, इस सम्बन्धमें विचार करते हैं। यदि यह चेतयिता पुद्गलादिकका होता है तो जिसका जो होता है वह उसका ही होता है, पर अभिन्न है। आत्माका जैसे ज्ञान है तो ज्ञान आत्मासे अभिन्न है। तो ज्ञान,आत्मा ही है। आत्मा जुदा नहीं, ज्ञान जुदा नहीं देखना, यह तात्त्विक सम्बन्ध है इसी तरह यह चेतयिता ज्ञाता यदि पुद्गलादिकका है तो ये सब केवल पुद्गलादिक ही रह जायेंगे। दो अलग-अलग नहीं रह सकते। या ज्ञेय रह जाय या ज्ञाता रह जाय। अब कौन एक रह जाय इसका निर्णय करो। ज्ञेय रह गया तो ज्ञाता बिना ज्ञेय क्या और ज्ञाता रह गया तो ज्ञेय बिना ज्ञाता क्या ? इसी प्रकार आत्माके स्वद्रव्यका उच्छेद हो जायेगा। इससे यह निर्णय करना कि पुद्गलादिकका यह ज्ञाता कुछ नहीं है।

मोहियोंका झमेला— भैया ! यहां तो मोहियोंका झमेला है। ये सब अन्याय कर रहे हैं मगर कौन किससे कहे ? क्या अन्याय हो रहा है अंतरङ्गमें कि इन बाह्य वस्तुवोंको अपना मान रहे हैं और इनमें ही आसक्त हो रहे हैं। अब कोई किसीको कैसे बुरा कहे ? चल रहा है ढंग। कोई तीन चार लोग थे। पढ़े लिखे तो न थे, वे पण्डित या पंडा कहलाते थे। सो कहा कि तुम्हारे यहां अमुक ग्रह लगा है, जाप करा लो तो मिट जायेगा। कहा कि कर दो। बैठ गये। तो एक बोला कि बिसनू बिसनू स्वाहा। इतना ही सीखा था। दूसरा बोला कि तुम जपा सो हम जपा

स्वाहा। तीसरा बोला कि ऐसा कब तक चलेगा स्वाहा, तो चौथा बोला कि जब तक चले तब तक सही स्वाहा। इसी तरह यहां सब गड़बड़ कर रहे थे। कोई किसीको कान पकड़ कर समझाने वाला नहीं है, तो अपनी मनमानी प्रवृत्ति सभी कर रहे हैं। सो ऐसा रंग ढंग कब तक चलेगा? ऐसी जन्ममरण की परिपाटी कब तक चलावोगे? भैया! इस संकटसे मुक्तिका उपाय ढूँढ लेना चाहिए।

ज्ञेय ज्ञाताका पार्थक्य— प्रकरण यह चल रहा है कि यह ज्ञेय ज्ञाता का है क्या? यह ज्ञाता ज्ञेय पदार्थका कुछ है क्या? जैसे खम्भेका यह आत्मा कुछ लगता है क्या? इन तीन बातोंमें पहिली बात तो कुछ ऐसी लगती होगी कि हां ज्ञेयका ज्ञाता तो है, लेकिन उसका ज्ञेयभूत पदार्थका अर्थ यह है कि यह ज्ञाता आत्मा है कुछ क्या? इसमें कुछ समझमें आया कि हां नहीं होना चाहिए और तब इस ही को सीधा बोल दिया कि इस खम्भेका यह आत्मा कुछ लगता है क्या? तो जरा झट समझमें आयेगा कि कुछ तो नहीं लगता है, यह बात इन तीनोंमें कही गयी है। यह आत्मा ज्ञायक ज्ञेयका कुछ नहीं है। यदि यह ज्ञेयका ज्ञायक हो जाय तो या ज्ञेय ही रहे या ज्ञायक ही रहे। सो जब ज्ञेय ही रहा तो ज्ञायकका उच्छेद हो जायेगा। ज्ञायक ही रहा तो ज्ञेय बिना ज्ञायक। क्या? जो वस्तुभूत है उसका कभी उच्छेद नहीं होता और मानलो ज्ञायकका उच्छेद हो गया तो ज्ञेय रहा ही क्या? फिर सर्व लोप हो जायेगा। इसलिए ज्ञेयका ज्ञायक कुछ नहीं है।

ज्ञायकका स्वामित्व— तो फिर भैया! यह ज्ञायक किसका ज्ञायक है? देखो अभी यहां ज्ञायक सुनकर जानने वाला यह अर्थ नहीं करना किन्तु ज्ञायक मायने चैतन्यस्वभावी आत्मद्रव्य। क्या यह ज्ञेयका ज्ञायक है? नहीं। तब फिर ज्ञायक किसका है? यह ज्ञायक ज्ञायकका ज्ञायक है। वह दूसरा ज्ञायक कौन? जो ज्ञायक है वह दूसरा ज्ञायक कौन? जिसका यह ज्ञायक है। वह कोई भिन्न चीज नहीं है, एक ही है। तो फिर ऐसा कहनेका प्रयोजन क्या है? भाई प्रयोजन तो कुछ नहीं है किन्तु जिसकी बुद्धि स्वस्वामी सम्बन्धमें लगी हुई है उनको समझाने के लिए इस तरह कहा जा रहा है। अर्थ तो यह है कि ज्ञायक ज्ञायक ही है। यह घर किसका है? तो कोई कह उठेगा कि यह घर हमारा है। तो जो जिसका होता है वह उसमें तन्मय होता है। तो घर रह गया तुम्हारा विनाश हो गया। पर है तो नहीं विनाश, इस कारण तुम्हारा घर नहीं है। तो तुम्हारा कौन है? तुम्हारे तुम ही हो। वह तुम कौन? जिसके स्वामी हो और वह कौन तुम

जो स्वामी हो। कोई अलग दो तुम तो नहीं हो। फिर ऐसा बतानेका प्रयोजन क्या? प्रयोजन कुछ नहीं। प्रयोजन माना है कि जिसकी यह भ्रम बुद्धि लगी थी कि यह घर मेरा है। उसको समझानेके लिए इतना बोलना पड़ा है कि तुम तो तुम ही हो और घर घर ही है।

परमार्थतः ज्ञायकका ही ज्ञातृत्व— अब इस ही बातको जरा वाच्यरूपमें भी देखो। यह आत्मा किसी परद्रव्यको जानता भी है क्या? हां व्यवहार दृष्टिसे तो परपदार्थको जानता है और निश्चयदृष्टिसे यह आत्मा अपने आपमें अपने ज्ञायकस्वरूपके परिणमनको जानता है अन्य पदार्थको नहीं जानता। जैसे आप दर्पण सामने लिए हों और दर्पणमें पीछेके खड़े हुए दो चार बालकों की फोटो आ गयी हो तो आप उस दर्पण को देख कर ही सब बताते जा रहे हैं कि अब उस लड़केने यों टांग उठायी, उसने यों जीभ मटकायी, उसने यों हाथ हिलाया, लेकिन आप क्या उन लड़कोंको देख रहे हैं? नहीं। आप तो उस दर्पणको ही देख रहे हैं। इसी तरह आपका स्वच्छ यह ज्ञायकस्वरूप जिस प्रकारसे जो पदार्थ अवस्थित है उसका ग्रहण इसमें हो रहा है। अर्थात् यह इस प्रकारसे अपना जानन परिणमन कर रहा है कि जिस प्रकार बाह्यमें पदार्थ अवस्थित है। तो आप सीधा अपने आपको जान रहे हैं किसी परपदार्थको नहीं जान रहे हैं। पर अपने आपको जानते हुए ही आप सब बातोंका बखान करते हैं, अमुक यों है, अमुक यों है। इसी तरह सबकी बात समझते जायो।

प्रभुकी परमार्थतः आत्मज्ञता— सर्वज्ञदेवके सम्बन्धमें तो यह बात प्रसिद्ध ही है कि भगवान आत्मा व्यवहारसे समस्त विश्वको जानता है और निश्चयसे केवल अपने आत्माको जानता है। पर यह बात केवल भगवानके लिए ही नहीं है, जगत्के सभी जीव व्यवहारसे परपदार्थोंको जानते हैं और निश्चयसे अपने आपको जानते हैं। भले ही कोई अज्ञानी जीव अपने आपको विपरीतरूपसे समझे, पर्यायरूप जाने, फिर भी यह ज्ञायक परपदार्थोंका ग्राहक कैसे कहला सकता है? सर्व पदार्थ स्वतंत्र हैं, अहो एक इस वस्तु की स्वतंत्रता नजर हो जाने पर एक कल्याणका निर्णय हो जाता है और एक इस स्वतंत्रताका परिचय न होने पर, इन बाह्यपदार्थों के साथ अपना सम्बन्ध मानने पर यह संसार परिभ्रमणका निर्णय हो जाता है।

महती विपत्तियोंका मूल दृष्टिका फेर— भैया! विपत्ति कितनी बड़ी हैं? पर वे सब विपत्तियां केवल अपने एक हठ पर ही लग गयीं कि इसने अपने सहज स्वभावको न अपनाकर परिणमनको अपनाया। केवल

भाव बनाया और यह सारा उपद्रव सामने आ गया। किया कुछ नहीं और जन्ममरणके चक्कर लग गए। किया केवल बैठे-बैठे ही एक भाव। जैसे एक कमजोर लड़का किसी बड़े लड़केको बस गाली देता है और कुछ नहीं कर सकता है वह। वह अपनी ही जगह खड़े हुए थोड़ा बक गया, अब उस बड़े लड़केने उसे पीट दिया। उस पीटनेका दुःख जब नहीं सहा गया तो फिर गाली दे दिया। उसने फिर पीट दिया। यह गाली देता है वह पीटता है। गाली के सिवाय और कुछ भी कर नहीं सकता। कमजोर हड्डी निकली हुई है। जोरसे तमाचा मार दिया जाय तो गिर पड़े ऐसा वह कमजोर बालक और कुछ भी नहीं कर पाता, वह जरासा मुँहसे बोल देता है कि इतनेमें वह लातों घूँसोंकी वर्षा शुरू कर देता है। सो यहां उस लड़केने कुछ तो विशेष किया दृष्टान्तमें, यह आत्मा तो कुछ भी नहीं करता है। यह तो अपने प्रदेशोंमें रहता हुआ केवल एक ऐसा भाव ही बनाता है कि लो यह मैं हू, रागादिक परिणाम या जो पर्याय है यही मैं हू। इतना चुपके से भीतर ही भीतर परिणाम बनाया कि ये सभी उपद्रव इसके ऊपर आ गए।

सृष्टिका स्रोत विकल्प— जैसे कोई लोग कहते हैं कि सृष्टि कैसे बनी? ब्रह्म एक है, और उसके जब यह परिणाम आया कि 'एकोऽहं बहुस्याम्' मैं एक हू बहुत हो जाऊँ—इतना भाव करते ही यह सारा संसार एकदम बन गया। उन्होंने यह कहा है। पर इसमें अपने तथ्यकी बात निकालें। प्रत्येक जीव एक-एक स्वतन्त्र, स्वतन्त्र पदार्थ है, यह सहज सिद्ध तो सहज शुद्ध है, अपने स्वरूपमात्र है किन्तु 'बहुस्याम्' का इसमें भाव लगा हुआ है। जो बहुत-बहुत परिणमन हैं, रागादिक भाव हैं, इन पर्यायोंको अपनाने का परिणाम लगा हुआ है। इसके फल से ये सारे नटखट हो रहे हैं। कल्याण चाहते हो, आनन्द चाहते हो, सुख चाहते हो तो अपने आपमें चुपके ही अपनी ओर मुड़कर अपने एकत्व और अकिञ्चन स्वरूपका अनुभव करलें। यह आपका पुरुषार्थ आपके काम देगा और इससे बाहरके जितने विकल्प हैं ये विकल्प अपना अहित ही करेंगे।

ज्ञातृत्वका महान् बल—देख लो भैया! यह ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा अपने आपमें स्वतन्त्र अपने ऐश्वर्य सहित अपनेमें जगमग स्वरूप सर्वसे निराला विराजमान् रहता है। यदि अपने मालिक को तका कि सारे उपद्रव क्लेश समाप्त हो जायेंगे। हे भाई! यदि बहुत तपस्या करना नहीं बनता है तो मत करो। घोर तपका आज समय नहीं है, न करिये क्योंकि आप एक कोमल आदमी हैं। बड़े आराममें पलते आए

हैं। परन्तु एक बात जो केवल विचारों द्वारा ही साध्य है, केवल परिणाम करनेसे ही बनता है और आपकी कोई चेष्टा नहीं चाहता है ऐसा जो कार्य है क्या कि कषाय रूप शत्रुको अपना शुद्ध ज्ञान परिणाम करके जीत लेना, इतना काम यदि नहीं बन सकता है तब तो क्या कहा जायेगा? केवल व्यामोह। सीधासा काम है जो केवल अपने परिणामों द्वारा ही सिद्ध हो जाता है। उसमें भी इतनी हैरानी रखना यह तो कोई विवेक वाली बात नहीं है।

आत्महनन-- देखो अपने इस सहजस्वरूपको यह ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा अनन्त समस्त द्रव्योंसे, परपदार्थोंसे निराला अपनी ऋद्धि वैभव सहित शाश्वत विराजमान है। इसे न पहिचान कर बाहरमें अपना मानकर हमने अपने आपका स्वयं हनन किया। आगको हाथमें लेकर दूसरेको मारने वाला पुरुष क्या करता है कि अपने ही हाथको जलाता है इसी प्रकार समस्त द्रव्योंको लक्ष्यमें लेकर क्रोध, मान, माया, लोभके परिणाम करने वाला यह जीव परद्रव्योंको क्या करता है, केवल अपना घात करता है।

क्रोधसे स्वयंका बिगाड़— क्रोध जगता है तो किसी परपदार्थको ख्यालमें लेता है तब जगता है। उस क्रोधके करनेमें परका कुछ बिगाड़ किया क्या? नहीं किया। उसका ही होनहार ऐसा हो, पूर्वकृत कर्म ऐसा ही हो और बिगाड़ हो जाय तो हो जाय, पर उसने नहीं किया।

मनुष्य ऐंठीला जीवन-- मान घमंड जो उत्पन्न होते हैं वे भी किसी परद्रव्यको लक्ष्यमें लेकर होते हैं। खुद ही खुदके लक्ष्यमें रहे तो वहां अभिमान जगना तो दूर रहा, अभिमानका पता ही नहीं पड़ता है। एकरस होकर आनन्दमग्न हो जाता है। मनुष्यमें कौनसी कषाय प्रबल है? क्रोध प्रबल नहीं है, माया प्रबल नहीं है, लोभ प्रबल नहीं है, मान प्रबल होता है। यह सिद्धान्तके अनुसार कह रहे हैं। यहां तो कोई ऐसे भी लोभी मिलेंगे कि धनके पीछे चाहे १० जूते भी कोई मार ले तो भी सह लेते हैं। तब भी उस पुरुषने १० जूते लोभके कारण नहीं, किन्तु अन्तरमें एक मान बसा है, यह मारता है तो मार ले, इतना धन आ जायेगा तो इन लोगों के बीचमें छाती फुलाकर चलनेका तो मौका लगेगा। यह भीतर में मान पड़ा हुआ है। यद्यपि लोभकी तीव्रता उसके है ही जो मान अपमान सह करके भी तृष्णा नहीं छोड़ता, फिर भी उसके अन्तरमें मान पड़ा हुआ है।

चार कषायोंकी प्रबलताके स्वामी— नरक गतिके जीवोंमें क्रोध

कषायकी प्रबलता होती है। तिर्यंच गतिके जीवमें माया कषायकी प्रबलता होती है। किसी छिपकलीको देखा होगा कि किस तरहसे माया करके छिपकर कीड़ोंको ले लेती है। छिपकलीका अर्थ क्या है, छिपकर ली। याने जो अपने शिकारको छिपकर लेने के लिए धीरे-धीरे चलती है, पहिले तो मरीसी बैठी रहती है फिर एकदम ही झपट कर ले लेती है। जो कुत्ता बिल्ली आदि हिंसक जानवर हैं उनकी वृत्ति देखो और इसी प्रकार सब तिर्यञ्चोंमें माया कषाय की प्रबलता है और देवोंमें लोभ कषाय की प्रबलता है। लोभ तो देवोंके लिए बनाया है, मनुष्योंके लिए शास्त्रमें नहीं बताया है।

मनुष्यमें मानकषायकी प्रबलता— मनुष्योंमें मान कषायकी प्रबलता है। तो मानके वश होकर यह जीव कितना विवाद करता है, कितना अशांति मचाता है, उसका स्थान होना चाहिए। कहां होना चाहिए मोहियों में। मलिन पुरुषोंमें उसका अवलम्बन होना चाहिए, ऐसा होड़ मचाते हुए यह जीव मानके वश होकर दुःखी होता है। तो मान करके इस जीव ने क्या किया? इस ज्ञायकस्वभावी प्रभुका आदर किया।

मायावी हृदयमें धर्मका अप्रवेश— मायाचार तो बड़ा विकट कषाय है। जैसे जिस गुरियाका छेद टेढ़ा हो उसमें सूत नहीं प्रवेश कर सकता। जो माला बनाने वाले लोग होते हैं वे माला बनाते हुएमें कोई ऐसी गुरिया आ जाय कि जिसका छेद टेढा हो तो उसमें सूत क्या प्रवेश कर सकता है? नहीं। सो उसे अलग हटा देते हैं। इसी तरह जिसका टेढा दिल है, मायाचारसे पूर्ण है उसमें धर्मका सूत्र क्या प्रवेश कर सकता है? नहीं। वह तो निरन्तर दुःखी है।

लोभका रंग— इसी तरह लोभ कषायका रंग बड़ा पक्का रंग बताया है। सर्व कषायें पहिले मिट जाती हैं, लोभ कषायके मिटनेका नम्बर सबसे अन्तमें आता है। लोभ मिटा तो फिर यह निर्णय हो गया कि अब सब कषायें समाप्त हो गयीं, इन कषायोंके वशीभूत होकर यह जीव एक पदार्थका दूसरे पदार्थके साथ सम्बन्ध मानता है।

मानकी विडम्बना— एक दरबारमें जहां विद्वानोंका बड़ा आदर होता था। सो एक कविका बहुत दिनोंसे सम्मान न हो पाया था। सो सभा में बोला कि महाराज हम ऐसी कविता बनाएंगे कि जैसी आज तक किसी से न बनाई और न बन सकती है और न किसी से कभी बन सकेगी। राजा बोला कि अच्छा दिखावो। सो जेबसे एक कोरा कागज निकाला जिसमें कुछ नहीं लिखा था और राजाके हाथमें देते हुए बोला कि महाराज

यह है वह कविता किन्तु यह कविता उसको ही दिखेगी जो एक बापका होगा, जो असली बापका होगा उसको ही महाराज यह कविता दिखेगी। देखिये महाराज! तो महाराजने जो कागज उठाया तो उसमें कुछ लिखा तो था नहीं मगर सारी पब्लिकको यह बता दिया कि यह कविता इतनी ऊँची है कि ऐसी कोई लिख ही नहीं सकता। और यह उसको ही दिखेगी जो एक बापका हो। महाराज सोचते हैं कि यदि यह कह दूं कि इसमें तो कुछ नहीं लिखा तो यह हजारोंकी पब्लिक क्या कहेगी? लोग यह जान जायेंगे कि यह तो २ साढे तीन बापके होंगे। सो राजा उस कागजको हाथमें लेकर कहता है कि वाह वाह बड़ी सुन्दर कविता है। राजाने कहा कि ऐसी सुन्दर कविता कोई नहीं बना सकता है। फिर पासमें एक पंडित जी बैठे थे उनसे कहा कि देखो कितनी बढिया कविता है? तो उन पंडित जी ने जब देखा तो आश्चर्य करके रह गए कि इस कविने तो बड़ी चतुराई सेजी, लेकिन वह भी कहता है कि वाह वाह कितनी सुन्दर कविता है? कहा कि अच्छा तीसरे पंडित जी को बताइये, बाबू साहबको बताइये। इन सेठ जी को बताइये, सभीने प्रशंसा की कि बहुत सुन्दर कविता है। अब केवल इस शान पर कि कोई यह न कह दे कि यह डेढ बापके होंगे, सो सभी झूठमूठ ही बखान कर रहे हैं। सो कषायके वशीभूत होकर ये जगतके प्राणी जो कुछ भी करते अनुचित उचित अविवेक ये सब इसकी निगाहसे थोडे हैं।

वस्तुकी स्वतन्त्रताका दर्शन— देखो भैया! जैन सिद्धान्तमें कही हुई सार बात यदि कुछ है तो जो अन्यत्र कहीं न मिले वह है वस्तुकी स्वतंत्रता। व्रत, तप, उपवास आदि को तो सभी कहते हैं, सभी जगह लिखा है मगर वस्तुकी स्वरूपमात्रताका ऐसा दर्शन जिसके आधार पर व्रत, तप चारित्र श्रद्धान सब कुछ निर्भर हैं आपका जैनदर्शनमें मिलेगा। ऐसे इस महान् दर्शनको प्राप्त करके फिर भी श्रद्धा ऐसी नहीं बना सकते कि मेरा तो मात्र मैं ही हूं और यह सतत परिणमन कर रहा है। अपने द्रव्य गुण पर्यायके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। ऐसी दृढ़ श्रद्धा यदि न बन सकी तो समझो कि मणिको पाकर पैरोंको धोकर उसका बुरा उपयोग करनेके बराबर है।

दुर्लभ नरजीवनकी बड़ी जिम्मेदारी— त्रसकाल कितना है? कुछ अधिक दो हजार सागर। इस त्रसकालके बीच यह जीव त्रस पर्याय पाता रहता है। इसमें मुक्त हो जाय तो भला है और न मुक्त हो जाय तो अंतमें उसे स्थावरोंमें जन्म लेना पड़ता है और उन त्रस पर्यायोंमें मनुष्य की

पर्याय यों ४८ रहती हैं और यों ढंगमें २४ मिलती है। और वहां कुछ सदुपयोग न कर सके तो इससे अच्छा यह था कि मनुष्य न बनते, सो आपकी सीट और नम्बर सुरक्षित तो रहता कि फिर मनुष्य हो सकते थे। तो मनुष्य होना बड़ी जिम्मेदारी वाली बात है। जैसे सभी कहते हैं कि कुटुम्बमें बड़ा भाई होना बड़ी जिम्मेदारीकी बात है। उससे भी अधिक जिम्मेदारी इस मनुष्यपने की है। यदि इस मनुष्य पर्यायको पाकर न चेते तो भला बतलावो अन्यत्र चेतनेका अवसर क्या आयेगा और चेतना यही है कि इस जीवका कोई दूसरा जीव कुछ नहीं लगता। ऐसा परखकर सभी वस्तुओंकी स्वतंत्रता देखो इसीसे निर्मलता बनती है और इस निर्मलतासे ही धर्म है।

जिस प्रकार ज्ञायक आत्मा ज्ञेय पदार्थका कुछ नहीं है, इसी प्रकार दर्शक आत्मा पदार्थका कुछ नहीं है, अर्थात् दृश्यका दर्शक नहीं है, दृश्य दृश्य ही है और दर्शक-दर्शक ही है, इस बातका वर्णन करते हैं।

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडियाय सा होइ।
तह पासओ दु ण परस्स पासओ पासओ सो दु ॥३५७॥

दर्शक व दृश्य परद्रव्यकी भिन्नतामें एक दृष्टान्त— जैसे भींतादिक परद्रव्य जो श्वेत करने योग्य हो रहे हैं व्यवहार दृष्टिमें उस भींतादिक परद्रव्योंको सफेद करने वाली यह कलई क्या उसकी कुछ लगती है? इन दोनोंके सम्बन्ध पर जरा विचार करो। यदि यह सफेदी भींतादिक परद्रव्य की होती है तो जो जिसका होता है वह वह ही होता है। जिसे आत्माका ज्ञान है तो ज्ञान आत्मा ही है। आत्मासे भिन्न ज्ञान और कुछ नहीं है। ऐसा तात्विक सम्बन्ध है। जब सेटिका भींत हो गयी तो भींतमें रह गयी, सेटिका खत्म हो गयी। जैसे व्यवहारमें कहते हैं ना कि यह आदमी हमारा है, तो इसमें ही सोच लो कि आदमी गौण हो जाता है और स्वामी मुख्य हो जाता है। प्रधानता स्वामीकी होती है। तो यह सेटिका यदि भींतकी हो गयी तो भींत मुख्य हो गयी और सेटिकाका उच्छेद हो गया, परन्तु किसी भी द्रव्यका किसी अन्यमें संक्रमण नहीं होता है। इस कारण न तो सेटिकाका उच्छेद होता है और न सेटिका भींतादिक परद्रव्योंकी है।

सेटिकाका स्वामित्व— यदि भींतकी यह सफेदी नहीं है तो फिर यह किसकी है सफेदी है? तो उत्तर मिलता है कि सफेदीकी ही सफेदी है। वह सफेदी अलग क्या चीज है जिसकी सफेदी बन जाय? तो कहते हैं कि अलग कुछ नहीं है। सफेदी सफेदी है। तो फिर स्वस्वामी सम्बन्ध बनानेका क्या मतलब है? कहते हैं कि कुछ भी मतलब नहीं है, किन्तु

भींत भींत ही है, सफेदी-सफेदी ही है। एक द्रव्यका दूसरा द्रव्य कुछ नहीं लगता है। जैसे आपने कोई कमीज पहिन ली तो क्या वह आपकी कमीज हो गयी? कमीजका अर्थ जानते हो? क मायने शरीर और मीच मायने अच्छी तरहसे मीच दे। अभी शरीरमें कोई कमीज पहिन लो तो हाथ हिलाने पसारने आदिमें कुछ न कुछ दिक्कत पड़ेगी और यदि कमीज नहीं पहिने हैं तो शरीरको जैसा चाहे हिलावो, हाथ जैसे चाहे फटकारो, हिलादो कुछ भी दिक्कत नहीं पड़ती है। तो क्या वह कमीच आपकी है? आपकी नहीं है। वह तो आपसे बाहर पडी हुई लोट रही है। वह तो कमीच की कीमच है। आपका यहां कुछ नही है।

व्यामुग्ध बुद्धि— किन्तु, भैया अज्ञानीके ऐसा मोह पड़ा हुआ है कि जैसे किसी बाबू साहबने यदि दर्जीसे कोट बनवाया और देखा कि गले की जगह पर जरासी सिकुड़न पड़ गयी है तो बाबू जी कहते हैं दर्जीसे कि तुमने तो हमारा नाश कर दिया। अरे बाबू जी नाश कहा कर दिया? कोटमें जरा सी सिकुड़न पड़ गयी है, पर कोटमें ऐसी आत्म बुद्धि रखी है कि कोट बिगड़ा तो आप ही खत्म हो गए। कोई गुजर जाय तो हाय हम बरबाद हो गये। अरे कहा बरबाद हो गए, तुम तो पूरेके पूरे हो। रही पालन पोषणकी बात। तुम्हारा उदय है सो उदय ही पालन पोषण करेगा। उदयसे ही पालन पोषण होता था। तुम्हारी तो रंच बरबादी नहीं हुई। मगर मोह बुद्धि है तो मानते हैं कि हाय मैं ही बरबाद हो गया।

अपनी संभाल— देखो भैया! जिसको जो मिला है इस सबका विछोह होगा, न घर सदा चिपका रहेगा, न आप रहेंगे, न आपको जो परिजन मिले हैं ये सदा रहेंगे। वियोग तो होगा ही, पर जितने काल जीवित हैं उतने काल तो ज्ञान बनाए रहो, मोह न करो, ममता न करो। यदि ऐसा कर सके तो बिछोहके समयमें पागल न बनना पडेगा और समागमके समय, मोह ममत्व रखा तो इनके बिछोहके समयमें पागलपन आ जायेगा। इसलिए ज्ञानी पुरुषका कर्तव्य है कि पुण्यपापके फलमें हर्ष विषाद न करें, किन्तु उसके मात्र ज्ञाता द्रष्टा बनें। होता है ऐसा आत्मबल कि कितने भी कुछ संकट आएँ तिस पर भी यह जीव ज्ञाता द्रष्टा रह सकता है।

खुदका खुदमें बिस्तार— जैसे यह रंग चौकीका नहीं है, चौखट का नहीं है, चौखट चौखट ही है और रंग रंग ही है। इसी प्रकार यह दर्शक दृश्य परपदार्थका नहीं है। दर्शक दर्शक ही है और दृश्य-दृश्य ही है। एक फैलनेकी पद्धतिका अन्तर भर है किन्तु परपदार्थका बन कुछ

नहीं गया। एक चूना का ढेलो जो ढेलाके रूपमें रखा हुआ था उस ढेलेको पानीमें डाल दिया सो वह ढेला जो एक पिण्डके रूपमें था सो कण-कण फैल फैलकर इतना विस्तृत हो गया, अब एक भींतके आधारमें उसे फैला दें तो वही एक ढेला जो हाथमें लिया जा सकता था वही ढेला भींत पर इस तरह फैल गया तो वह सफेदी कहीं भींतकी नहीं बन गयी। सफेदी अपने में ही सफेदी है और सफेदी अपने को ही सफेद कर रही है, भींत को सफेद नहीं कर रही है।

रंगकी रंगको ही रंगनेमें शक्यता— एक यह रंग काठमें लगा है तो क्या इस रंगने काठको नीला कर दिया? नहीं। नीले रंगने अपने को ही नीला बनाया। पहिले डिब्बेमें पिण्डरूपमे रखा था अब वह इस रूपमें फैल गया तो इतने विस्तारमें यह नीला हो गया, पर काठ तो ज्यों का त्यों है। नीला रंग नीले रंगका है, काठका नहीं है।

आत्माके परका अदर्शकत्व— इसी प्रकार यह दर्शक आत्मा इस दृश्य पदार्थका क्या कुछ लगता है? क्या यह दृश्य का देखने वाला यह कुछ है? नहीं है। यदि यह दर्शक दृश्यका कुछ बन जाय तो दृश्य ही रहेगा, दर्शकका उच्छेद हो जायेगा, परवस्तुका उच्छेद नहीं हुआ करता। क्योंकि कोई वस्तु किसी वस्तुरूप नहीं बनती है। तब यही सिद्ध हुआ कि यह दर्शक दृश्य का कुछ नहीं है।

दर्शककी स्वतन्त्रता— फिर किसका है यह दर्शक? दर्शकका ही दर्शक है। कहते हैं कि वह दूसरा दर्शक कौन जिसका कि यह दर्शक बन जाय? कहते हैं कि कोई दूसरा दर्शक नहीं। तो फिर स्व स्वामी सम्बन्ध क्या बना रहे जबरदस्ती, इससे कुछ प्रयोजन निकलता है क्या? प्रयोजन कुछ नहीं निकलता है। तो फिर यह सिद्ध हुआ कि दर्शक दर्शक ही है। यह दूसरेका दर्शक नहीं है। फिर इतनी लम्बी चौड़ी बातें बतायीं किस लिए? जो पुरुष एक पदार्थको दूसरे पदार्थका स्वामी मानता था उसको समझाने के लिए यह अभिन्न स्वस्वामी सम्बन्ध बताया गया है। अभिन्न स्वस्वामी सम्बन्धको बताकर उसे समझाया गया है कि किसी पदार्थका कोई पदार्थ कुछ नहीं लगता है। यह अपनी बात चल रही है, अपनी बात सुनने में कठिन लगे और दाल रोटी की बात कहने सुननेमें सरल लगे यही तो व्यामोह है।

आत्मलब्धिका यत्न— भैया! खुदकी बात क्यों कठिन लग रही है और परकी बात जिसको यहां मना किया जा रहा है कि हम रागी द्वेषी भी न हों, परके देखने वाले भी न हों, जिससे कुछ सम्बन्ध नहीं उसकी

बात सुगम लग रही है, तथा जो स्वय है खुद है उसकी समझ कठिन लग रही है। इसका कारण यह है कि ज्ञान पुरुषार्थ नही किया जा । है। देखो बड़ी बातमें तपस्या करना पड़ता है और कष्ट झेलना पडता है, मन लगाना पड़ता है और आदर रखना होता है, तब जाकर वह चीज प्राप्त होती है। कहीं यों ही आलस्यमे और खेलकूदमें पुण्यके ठाठ बाटमे मस्त होकर चाहें कि यह चीज मिल जाय तो मिलना कठिन है। सो कुछ भी जगतमे मिले उसके मिलनेसे आत्माका पूरा नहीं पड़ेगा। आत्माका पूरा पडेगा तो एक आत्मज्ञानसे पडेगा। तो प्रत्येक प्रयत्न करके एक इस आत्माकी ओर कुछ दृष्टिपात करें और कुछ लगें, इसके लिए चाहे सर्वस्व समर्पण करना पडे तो सबको त्याग करके उपेक्षा करके भी यदि यह एक ज्ञानदृष्टिकी बात प्राप्त होती है तो समझलो कि सस्तेमे ही निपट गए। कुछ हमारा खोया नहीं।

पृथक् वस्तुके भिन्न समझनेमें संकोच क्या—भैया! जो हमारी चीज नहीं है उसको त्यागनेमें कठिनता तो न मालूम करें। जैसे दूसरेका धन आपके पास है और यों ही देने को पडा है तो दूसरे को देनेमें आप हिचकिचाते नहीं। तो जो मेरी चीज नहीं है, तन, मन, धन, वचन ये चारों मेरे नहीं हैं, सो इनको किसी भी प्रकार उदारतासे उपयोग करनेमें ज्ञानी होकर जानो कि मैंने खोया कुछ नहीं है। जो मेरा गुण है, स्वभाव है, उसकी दृष्टि चूक जाय तो मैंने सब खोया। जो मेरा है वही खोया तो उसको ही तो खोया कहेंगे। जो मेरा नहीं है उसके खो जाने पर यह खोया हुआ नहीं कहा जायेगा। जो अपना है वही खो जाय तो उसे ही खोया हुआ कहना चाहिए।

दर्शकका परदृश्यसे असम्बन्ध—यहां यह बताया कि आत्मा पर का दर्शक भी नहीं है, ज्ञायक भी नहीं है। इस रहस्यको द्रव्य-द्रव्यके रूप में बताया गया है। दर्शकसे देखने वाला इतना अभी अर्थ नही करना, द्रष्टा किन्तु दिखने वाला यह द्रव्य इस द्रव्यका कुछ नहीं लगता। अब इससे भी आगे बढ़कर यह सोचो कि क्या यह आत्मा किसी परको देखता भी है? दर्शन एक आत्माका गुण है और वे गुण आत्मप्रदेशमें ही रहते हैं। किसी भी द्रव्यका गुण उसके प्रदेशसे बाहर त्रिकाल होता ही नहीं है। तब दर्शनगुण जो कुछ भी परिणमेगा वह आत्मप्रदेशमें ही तो परिणमेगा कि परमें परिणमेगा और जहां परिणमता है वही उसका कर्म है, वही उसका प्रयोग है। तब दर्शन ने अपने ही आत्मामें अपने ही आत्माको देखा, किसी परवस्तुको नहीं देखा। किन्तु आत्मामें ऐसी स्वच्छताका

नहीं हो सकता कि लोहेमें पानी प्रवेश कर जाय। वह बाहर ही बाहर लोटता रहता है, चाहे खतम भी हो जाय, एक दृष्टान्तकी बात है।

आत्मामें परके अप्रवेशको ज्ञानकी विशुद्धता— इसी तरह समग्र वस्तुवें हम आपसे बाहर पड़ी हुई हैं, हममें कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, दूसरेमे हम नहीं है लेकिन मोहकी यह एक विचित्र करामात है कि यह अपने साफ सुगम स्वतत्र चिच्चमत्कार मात्र आत्मस्वरूपको भूल गया है और परदृष्टि इसने बना डाली है, परकी ओर यह आकर्षण किए हुए है। यह आत्मा न परका ज्ञायक है और न परका दर्शक है। यह तो यह ही है, जैसा है तैसा ही है। इसको किसी अन्य पदार्थका रच भी सम्बन्ध नहीं है। इस कथनके सुननेसे अपने आपमें यह प्रभाव होना चाहिए कि हम भी यह बुद्धि बनाएँ, यथार्थ बात मानें कि मेरा मैं ही हूं। मेरा मुझसे बाहर कोई कुछ शरण नही है। कोई करने वाला भोगने वाला नहीं है। यह ज्ञानामृत पिये रहेंगे तो ममत्व ही क्या होगा? और इस ज्ञानामृतको न अगीकार करेंगे तो व्याकुल होकर, दुःखी होकर ससारमे रुलना ही पडेगा। जैसे कि अब तक रुलते चले आए हैं।

परके अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व व अस्वामित्व आदिका समर्थन— इस प्रकार यहा तक ज्ञान और दर्शन गुणकी वृत्तिकी दृष्टिसे भी इस आत्माका परके साथ सम्बन्ध नहीं है, इस बातका वर्णन किया गया है। और इस वर्णनमें यह स्पष्ट कर दिया गया है कि द्रव्य द्रव्यका तो कुछ है नहीं, केवल जानन और देखनका व्यवहारसे सम्बन्ध है और कोई सम्बन्ध आत्मा और परके साथ नहीं है। यह अपनेको ही जानता और अपने को ही देखता है। जब दूसरे को जानना देखना तक नहीं है तो अमुक अमुकसे राग करता है, अमुक अमुकसे बडा प्रेम करता है, बडा मोह है, इसका मेरा बड़ा बैर है, इन बातोंकी तो चर्चा ही क्या है? सब अपने आपमे अपने कषाय और ज्ञानके अनुसार अपना परिणमन बनाए हुए हैं। कोई किसीका न कर्ता है, न हर्ता है, न देने वाला है, न लेने वाला है, न अधिकारी है, न स्वामी है—ऐसा जानकर अपने ज्ञानस्वरूपका अनुभव करके मुक्तिका मार्ग प्राप्त करना यही एक अपना काम है।

जैसे यह ज्ञायक ज्ञेयका कुछ नहीं है और यह दर्शक दृश्यका कुछ नहीं है इसी प्रकार यह सयत परद्रव्यका संयत नहीं है अर्थात् वह त्यागी परका त्यागी नहीं है इस सम्बन्धमें कुन्दकुन्दाचार्यदेव वर्णन करते है।

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया दु सा होइ।
तह संजओ दु ण परस्स संजओ सजओ सो दु ॥३५८॥

परके अपोहकत्वकी व्यवहार दृष्टि— संयतका अर्थ है अपने आपमें भली प्रकारसे नियत हो जाना। इसका अर्थ यह निकलता है कि यह समस्त परद्रव्योंका परिहारी है। अपने आपमें नियत होना और परका त्याग होना, इन दोनोंका एक ही अर्थ है। तब इस त्यागीका और परद्रव्य का वास्तवमें क्या कोई सम्बन्ध है? इस बात पर विचार करना है। यह आत्मा ज्ञान और दर्शन गुणकर भरपूर और परसे अलग रहनेके स्वभाव वाला है। यह परका अपोहक है। इस अपोह्य अपोहकके सम्बन्धमें विचार किया जा रहा है। व्यवहारसे ऐसा कहा जाता है कि यह परद्रव्यका अपोहक है, पुद्गलादिक परद्रव्य अपोह्य है और यह आत्मा अपोहक है और व्यवहारमें भी लोग कहते हैं कि हम आलूके त्यागी हैं, गोभीके त्यागी हैं और कोई-कोई यह भी कहते हैं कि हम त्यागके त्यागी हैं, पर वह तो मखौल है। कुछ छोड़ते न बने तो अपनी बड़ाई करनेके लिए कह देते हैं क हम त्यागके त्यागी हैं।

अपोहकमें अपोह्यका अत्यन्ताभाव— भैया! हमारी थालीमें जो चीज न आई हो उसका हम त्याग रखते हैं। तो जैसे थालीमें चीज नहीं आई उसके त्यागी हैं। इसी प्रकार जो चीज सामने हो उसके भी हम सदा त्यागस्वभाव वाले हैं। इसकी खबर मोही जीवको नहीं है। यह जीव विकल्पोंको तो ग्रहण करता है और विकल्पोंका त्याग करता है, यह बात तो है इसीकी युक्तिसंगत, पर अन्य पदार्थोंको न यह जीव ग्रहण करता है और न यह जीव त्याग कर सकता है और फिर विकल्पों का त्याग करने वाला यह आत्मा क्या परपदार्थों का कुछ लगता है? एक तो कहते हैं त्यागी और दूसरे जोड़ते हैं सम्बन्ध। जैसे यह किसके फूफा हैं? अमुकके हैं। यह किसके हैं? अमुकके हैं, ऐसे ही हम त्यागी अमुक पदार्थके हैं यों रिश्ता जोड़ रखा है।

गृहीतके ही अपोह्यपनेकी सम्भवता— त्याग वस्तुतः परद्रव्यका नहीं किया जाता किन्तु अपने आपके विकल्पोंका किया जाता है। व्यवहारसे जो यह कहा जा रहा है कि यह अपोहक परद्रव्यका है तो वहां सम्बन्धका विचार करिये कि यह संयमी परद्रव्यका संयमी है क्या? यदि यह आत्मा पुद्गलादिक का कुछ हो जाय, त्यागी हो जाय, संयमी हो जाय तो जिसका जो होता है उसका वही होता है। वहां दो चीजें नहीं रह सकती हैं। जैसे आत्माका ज्ञान होता है तो ज्ञान और आत्मा कोई जुदी जुदी चीजें नहीं हैं, आत्मा ही ज्ञान है। इसी तरह यदि यह अपोहक परद्रव्य का अपोहक हो जाय तो परद्रव्य और ये दोनों दो सत्त्व वाले पदार्थ न

रहेंगे। तो रहेगा कौन ? स्वामी रहेगा मेरी अदाजमे।

संकरतामें सर्वलोपका प्रसंग-- यद्यपि वहां भी विवाद है कि जब दो मिलकर एक बने तो कौन एक रहे ? लेकिन व्यवहारपनेकी लाज रखते हुए बात खोजी जाय तो यह कहा जायेगा कि स्वामी रह जायेगा। क्योंकि स्वस्वामी सम्बन्ध बनानेमें मुख्यता स्वामीकी होती है। तो जब परद्रव्य का अपोहक आत्मा उच्छेदको प्राप्त हो गया, जब अपोहक नहीं रहा तो अपोह्य क्या है ? जब त्यागी नहीं रहा तो त्याज्य क्या रहा, किन्तु ऐसा नहीं होता है। कोई द्रव्य किसी द्रव्यरूप हो जाय या किसी द्रव्यका उच्छेद हो जाय जब ऐसा नहीं है।

अपोहकका स्वामित्व-- अब विचार करें कि यह अपोहक किसका है ? यह त्यागी किसका है ? यह अपोहक अपोहक का है। यह संयमी सयमीका है। वह दूसरा संयमी क्या जिसका कि यह सयमी बने। तो दूसरा कुछ नहीं है। तो इसका अर्थ ही क्या निकला कि संयमीका संयमी है, रोटीकी रोटी है, तुम्हारी नहीं है। तो वह दूसरी रोटी क्या जिसकी रोटी बने ? कुछ भी नहीं है। तो फिर इसका कुछ मतलब ही नहीं निकला। तो ऐसा बकवाद क्यों की जा रही है ? अरे बकवाद नहीं की जा रही है किन्तु जो जीव परको स्वामी मानता था उसकी परमें स्वस्वामी बुद्धि मिटानेके लिए अभेदरूपसे खुदको खुदका स्वामी बताना पडा। स्पष्ट अर्थ तो यह है कि यह अपोहक अपोहक ही है। अपोहक माने त्यागी। त्याग करने का अर्थ है अपने आपमें सयत रहना। तो यह आत्मा किसी परद्रव्यका कुछ नहीं है।

वस्तुस्वातन्त्र्यकी घोषणा-- भैया ! यहा ऐसी स्वतंत्रताकी घोषणा की जा रही है कि जब कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यमें न अपने द्रव्यत्वका सम्बन्ध रखता है, न गुणका सम्बन्ध रखता है, न परिणमन का सम्बन्ध रखता है। फिर उसमें स्वस्वामी सम्बन्ध बताना और कर्ता कर्मका भ्रम करना कहा तक युक्त है ?

ज्ञानस्थैर्यके लिये त्यागका सहयोग-- त्याग भी ज्ञान दर्शनकी स्थिरताका नाम है। जो जीव ज्ञान दर्शनगुणमे स्थिर होना चाहता है उसे यह आवश्यक है कि वह विकल्पोंको छोडे। विकल्पोंको छोड़े बिना ज्ञायक शुद्ध स्वभावमें स्थिरता नहीं हो सकती। विकल्प होते हैं परपदार्थविषयक विकल्पोंके स्वरूपका निर्माण परपदार्थोंको विषय किए बिना नहीं होता है। जैसे कहा जाय कि किसी भी परपदार्थका ख्याल न रखो और विकल्प किए जावो तो यह बात सम्भव नहीं है। विकल्प परका विषय लिए बिना

होता ही नहीं है। तब बुद्धिपूर्वक उपाय क्या है? तो उपाय दो ही हैं। एक तो ज्ञानस्वभावका मनन करना और बाह्यमें जिन पदार्थोंका आश्रय करके विकल्प उत्पन्न हुआ करता है उन पदार्थोंका त्याग करना, उनको निकटसे हटाना, यही बाह्यमें उपाय है। परन्तु द्रव्यानुयोगकी प्रगति और चरणानुयोगकी प्रगतिका सम्बन्ध है।

त्यागका सर्वत्र सुफल— जैसे किन्हीं भी दो पुरुषोंमें विवाद हो गया कि परलोक है या नहीं। तो बहुत विवाद होनेके बाद अन्तमें यह निष्कर्ष निकला कि देखो सदाचारसे परसेवा करते हुए, अपना परिणाम निर्मल रखते हुए रहनेमें शांति तो मिलती है ना, सो इस भवमें भी शांति चाहते हो तो कषाय मंद करना चाहिए। और कषाय मंद करनेके फलमें यदि परलोक निकल आए तो वहां भी शांति रहे। सो परवस्तुवोंका त्याग करनेका प्रयत्न करना चाहिए। यह बात न देखो कि पहिले सम्यग्दर्शनको मजबूत करलें फिर बाह्य चीजोंका त्याग करना शुरू करेंगे। प्रथम तो तुम सम्यग्दर्शनका नियम कब मानोगे? ऐसी ही बात बनती चली जायेगी तो बाह्य वस्तुवोंका त्याग सम्यग्दर्शन न भी हो तो भी उसका त्याग उचित है। त्याग विकल्पोंकी मदतामें सहायक तो है। इसलिए यथाशक्ति त्याग करना ही चाहिए। पर साथ ही यह ध्यान रखो कि परद्रव्यका त्याग किया जाता है ज्ञान दर्शन स्वभावमें स्थिर होने के लिए। सो काम तो किया पर प्रयोजनका स्मरण न रहा तो वह काम विडम्बनारूप हो जाता है।

प्रयोजनके ज्ञान बिना विडम्बना— जैसे किसी सेठके यहां शादी थी। उनके घरमें एक बिल्ली रहा करती थी तो शादीके समयमें वह बिल्ली इधर उधर भगे। बिल्लीका इधर उधर आना जाना असगुन माना जाता है। वास्तवमें असगुन वह है जो हिंसाका कार्य हो। बिल्ली तो बड़ी हिंसक होती है सब लोग जानते हैं, इसलिए बिल्लीको असगुन माना जाता है। सो उस सेठने विवाहके समयमें बिल्लीको पकड़कर एक पिटारेमें बंद करवा दिया था। अब ५-७ वर्ष बाद सेठ जी तो गुजर गए। किसी की फिर शादी आयी। तो लड़कोंने भावर पड़नेके समयमें कहा कि अभी ठहरो, पहिले कोई बिल्ली पकड़कर लावें, पिटारेमें बंद करें तब भावर पड़ेंगी क्योंकि पिता जी ने ऐसा ही किया था। तो बड़ी हैरानी हुई खोज करनेमें, मुश्किलसे एक बिल्ली पकड़में आयी, उसको पिटारेमें बंद किया तब भावर पड़ी। भावर पड़नेमें भी देर हो गयी, सवेरा हो गया, सूर्य निकल आया। तो इसी प्रकार जब प्रयोजनका पता नहीं रहता है तो बाह्य वृत्तिमें और बाह्य बातोंमें ऐसी ही विडम्बनाएँ हो जाती हैं।

भैया ! परद्रव्यका त्याग किस लिए किया जाता है ? इस लिए किया जाता कि विकल्प हटें और ऐसे विकल्परहित अवसरमें हम अपने ज्ञान स्वभावका, ज्ञान वृत्ति द्वारा अनुभव करें, जिस इस अंतःपुरुषार्थके बलसे भव-भवके संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं। यह है प्रयोजन त्यागका। किन्तु यह प्रयोजन जहां नहीं मालूम होता तो उस त्यागकी विडम्बना हो जाती है। और जो पुरुष जान बूझ कर घरमें सुविधा न हुई, अच्छी प्रकारसे रहनेके खाने पीनेके साधन न रहे तो कोई कोई तो साफ कह देते हैं कि महाराज हमारे तो खाने तककी भी सुविधा नहीं है। सो हमें बाबा बना दो। अरे बाबा बननेमें क्या लगता है ? तनिक कपडे हमारे जैसे ले लिये और तनिक ऊँचा बनना हुआ तो कपडे भी छोड़ दिये। और यदि दोनों लाभ लूटना हो कि पैसा भी पासमे खूब रहे और तनिक पुजते भी रहें तो तनिक ब्रह्मचारी वगैरह १-२ प्रतिमाका नाम लेकर बन जायें। यदि इसही भावसे त्यागी बने कोई तो वह प्रयोजन पायेगा कहां से ?

आंशिक त्यागमें धर्मपालनकी आम व्यवस्था— वैसे साधारणरूप से त्यागका यह नियम है कि ७ प्रतिमा तक पुरुष अपने घरकी आजीविका बनाकर घरमें ही शुद्ध भोजन करता हुआ रहे और धर्मसाधना करे और जो उसने दूसरी प्रतिमामें अथिति सविभाग व्रत लिया है उसकी भी उपेक्षा न करे। साधारणतया यह है नियमकी बात, पर कोई इसे भग करे तो उसके आत्माका संतुलन फिर बिगड़ जाता है और यदि त्यागमार्गसे ही चलना है तो फिर आरम्भ परिग्रहका त्याग करके कषाय मंद रखकर ज्ञान ज्यादा न भी हो तो भी कुछ परवाह नहीं, अपना व्रत निभाने लायक ज्ञान हो उतना ही बहुत है। थोड़ी भी आत्मतत्त्वकी बात याद हो उतना भी बहुत है; पर कषाय मंद हों, शांति पूर्वक कोई ऊँचा त्यागी बनकर रहे तो उसका भी भला है।

त्यागीके दो सद्वृत्तियोंकी अनिवार्यता— भैया ! कोई यह बात नहीं है कि उपदेश झाड़ने वाला हो वही त्यागी हो तो काम चले, पर यह बात जरूर है कि जो त्यागी बने उसकी कषाय मंद हो और उसका वार्तालाप दूसरोंको हित करने वाला प्रिय लगे ऐसा उसका वचन हो। दो बातें कमसे कम त्यागीमें अवश्य होनी चाहियें। एक तो कषायकी मंदता याने शांति और दूसरे हित मित प्रिय वचन बोलना। यदि ये ही दो बाते न रहीं, लट्ठमार ही बोलते रहे, बोलनेका भी सहूर न रखा और पद पद पर क्रोध भी बगरायें, दूसरों पर पेंठ भी चलाएँ कि वाह हम तो हलके भगवान बन गए हैं, हमें तो पुजना ही चाहिए, इनके सिर पर लदना ही चाहिए

ऐसी बुद्धि रखें तो बतलावो अब क्या बात रह गयी जिससे आपको उससे कुछ शिक्षा मिली ? यदि आपको हम त्यागियोंसे किसी प्रकारकी शिक्षा मिले तो आपके लिए हम त्यागी कहला सकते हैं और उल्टे आपके क्लेश के लिए कारण बनें तो आपके हम क्या कहला सकते हैं ?

त्यागभावका महत्त्व— त्यागका प्रयोजन है कि किसी प्रकार अपने ज्ञान दर्शन स्वरूपमें स्थिर हो जाना, यह बात यदि आती है मनमें तब तो समझो कि हमारा जीवन सफल है। देखो त्याग किए बिना गुजारा न चलेगा। मोह मोह करके घरमें ही रहकर विषय कषाय भोगकर अंतमें मिलेगा कुछ नहीं, वह रीता ही रहेगा। त्याग तो आवश्यक है किन्तु त्याग के साथ ज्ञान भी आवश्यक है। बहुत ज्ञान न हो तो जिससे आत्महितकी सुध बनी रहे इतना तो ज्ञान होना ही चाहिए। सो इस ज्ञान दर्शन गुणकर भरपूर आत्माका यहां पर द्रव्यके साथ सम्बन्ध पूछा जा रहा है कि यह हेय पदार्थोंका त्यागी कुछ लगता है क्या ? तो इसका इस त्याज्यपदार्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इसने तो अपने विकल्प परिणमनका विलय किया और निर्विकल्प परिणमनका उत्पाद किया, यह ही काम इसमें हुआ और इसको इस कार्यसे ही लाभ मिला। ऐसा करनेमें परद्रव्योंका परिहार सहायक है क्योंकि आश्रयभूत पदार्थको छोड़ दिया तो विकल्पोंको वहां अवकाश नहीं रहता है।

असद्भूतमें विकल्पका अभाव— जो चीज नहीं है उस चीजको कौन पकड़ सकता है ? क्या कोई यह सोचता है कि मैं आज बांझके लड़केसे लड़ूँगा, क्या कोई यह सोचेगा कि आज मैं धुँवाके पत्तेकी चटनी खाऊँगा। क्या कोई यह सोचता है कि आज मैं बादलकी छालका काढा पीऊँगा ? चीज ही नहीं है तो सोचेगा क्या ? यदि यह वर्तमान चीज भी हटा दी जाय और इस प्रकार हटा दी जाय कि तत्संबंधी कल्पना भी मनमें न जगे तो फिर विकल्प कहांसे होगा, इस कारण इसका त्याग किया जाता है। यद्यपि यह नियम नहीं है कि त्याग कर देने पर विकल्प हट जाता है फिर भी यह नियम है कि जिनका विकल्प हटता है उनका बाह्य वस्तुवोंका त्याग करते हुए विकल्प हटता है। ऐसा नहीं बनता है कि परवस्तुको भी अपनायें और निर्विकल्प बन लें। इस कारण बाह्य वस्तुका त्याग करना आवश्यक है।

त्यागके प्रयोजनका लक्ष्य हुए बिना विडम्बना— फिर भी भैया ! बाह्य वस्तुके त्यागका प्रयोजन हम जानें और प्रयोजनके लिए ही त्याग करने का यत्न करें तो यह हमारा मार्ग ठीक रहेगा। परन्तु, प्राय. होता

क्या है कि जितना त्याग करें उतना ही गुस्सा बढ़े, जिस दिन घरमें उप-वास कर लेते हैं, सबकी बात तो नहीं कह रहे हैं पर जिसे अपना प्रयोजन नहीं मिला है उसकी बात कह रहे हैं, गुस्सा ही भरा रहता है क्योंकि एक तो यह मनमें आ गया कि आज हम त्यागी बन गये, हम इन सबसे आज बड़े हो गए, एक तो मनमें यह भरे हैं कि 'हम तो धर्मात्मा बने हैं और दूसरोंको बढ़िया पूड़ी हलुवा खाते देख लिया सो मनमें अब ज्ञान स्वभाव की स्थिरताका प्रयोजन तो है नहीं ना, जबरदस्तीके त्यागमें यह भी मनमें उठ रहा है कि ये कैसा बढ़िया हँम खेत कर खा रहे हैं, सो इनके गुस्सा चढ़ती है।

शुद्ध दृष्टि बिना तृष्णादिकका प्रसार—बूढ़ोंको देखा होगा उनको बड़ी ही जल्दी गुस्सा आती है। जहा ज्ञान कम होगा और तृष्णा बढ़ी हुई होगी वहां गुस्सा आता है। जिसने अज्ञानमें ही जीवन बिताया उसके बुढापेमें तृष्णा और बढ जाती है। तो इसी प्रकार जिसको व्रत उपवासका प्रयोजन याद नहीं है सो उन्हें त्याग करते हुए गुस्सा बढ़ जाती है। तो बाह्य वस्तुका त्याग तो करें पर ज्ञान सहित करे, किसलिए यह त्याग करें उसका प्रयोजन तो जानलें। हम अपने स्वभावसे चिगकर बाह्यपदार्थोंमें दृष्टि लगाये हैं और इसी कारण मुझमें अधीरता बनी है, आकुलता बनी है। उन आकुलतावों को मिटाना है तो इसके लिए हमें अपने आनन्दमय स्वरूपमें प्रवेश करना होगा। इसलिए बाह्यपदार्थो हटो। और बाह्य पदार्थों का आश्रय करके समताका निमित्त पाकर उत्पन्न हुए जो रागादिक परिणाम हैं ये परिणामो ! मुझसे दूर हटो, फिर हम क्या रहना चाहते ? मैं अभिराम सहजानन्द रहूगा। मै अपने आत्माके समस्त प्रदेशोमें सहज आनन्दस्वरूप रहूगा। यह दृष्टि हो एक त्यागी पुरुषकी। जिस दृष्टिके प्रतापसे उसको त्याग द्वारा मदद मिलती है अपने आपके स्वरूपमें प्रवेश करनेकी।

लक्ष्य बिना प्रयत्नकी अकार्यकारिता—भैया ! जिसको लक्ष्यका ही पता नहीं होता तो जैसे कोई नाव खेने वाला जिसका उद्देश्य ही कुछ नहीं है कि मुझे कहां जाना है तो थोड़ा पूरबको नाव खेया, थोड़ा पश्चिम को खेया, इसी तरह चारों दिशावोंमें जहां चाहे नाव खेता रहता है। इसी तरहसे नाव खेते-खेते सारी रात बिता डालता है, सुबह देखता है तो नाव वहींकी वहीं है। इसी तरह त्याग व्रतका भारी तो यत्न करते हैं पर प्रयोजन जाने बिना करते हैं तो वहींके वही विह्वल आकुलित ज्योंके त्यों अज्ञानी रह जाते हैं और फिर सोचते हैं कि देखो कितना तो धर्म किया

मगर शांति न मिली। अरे धर्म कहां किया था, धर्म करे और शांति न मिले यह तो नहीं हो सकता है। तो धर्मके स्वरूपको जानो और उसमें ही स्थिर होनेका यत्न करो, यही त्यागका प्रयोजन है।

जिस प्रकार यह आत्मा परद्रव्योंका ज्ञायक नहीं है और परद्रव्यों का दर्शक नहीं है तथा परद्रव्योंका अपोहक नहीं है इस ही प्रकार परमार्थ से यह आत्मा परद्रव्यका श्रद्धान करने वाला भी नहीं है, इस बातको अब अगली गाथामें कह रहे हैं।

जह सेडिआ दु ण परस्स सेडिया सेडिया दु सा होइ।
तह दसणं दु ण परस्स दसण दसणं त तु ॥३५६॥

जैसे सेटिका परद्रव्यकी कुछ नहीं होती है। सेटिका सेटिका ही है, इस ही प्रकार यह सम्यग्दर्शन परद्रव्यका कुछ नहीं है। सम्यग्दर्शन तो सम्यग्दर्शन ही है।

सेटिकाका परद्रव्यसे असम्बन्धका दृष्टान्त— इस ही बातको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट यों जानिये कि सेटिका कोई सफेद गुणकर भरी हुई एक वस्तु है? जिसे खड़िया कहो चूना कहो या कलई कहो। उस सेटिका का व्यवहार से ये सफेद की जाने योग्य भींत आदिक परद्रव्य हैं। अब ये भींत आदिक परद्रव्योंका जो कि श्वेत करने योग्य हुई उसके सफेद करने वाली यह सेटिका कुछ होती है अथवा नहीं होती है इस सम्बन्धमें जरा विचार करें। यदि यह सेटिका भींतादिक परद्रव्योंकी होती है तो जिसका जो होता है वह वह ही होता है। जैसे आत्माका ज्ञान होता है तो ज्ञान आत्मा ही कहलाया ऐसा स्व स्वामीका अभिन्न तात्त्विक सम्बन्ध है। जब सेटिका भींत आदिक की हो जायेगी तो भींत आदिक ही रहेंगे, सेटिकाका नाम निशान न रहेगा। परन्तु कोई भी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्यमें संक्रमण नहीं करता है। इसलिए किसी भी द्रव्यका विनाश नहीं होता है। सेटिकाका विनाश सम्भव नहीं है। दोनों स्वतत्र द्रव्य हैं। भींत अपने स्वरूपमें भींतके ढगसे है और यह सफेदी अपने स्वरूपमें अपने ढगसे भरी है। चीजें दोनों अलग-अलग हैं। किसी का कोई नहीं हुआ।

सेटिकाका स्वामित्व— यदि सेटिका भींत आदिका परद्रव्योंकी नहीं है तो फिर किसकी है? तो उत्तर क्या होगा कि सेटिकाकी ही सेटिका है। वह दूसरी सेटिका कौन सी है? जिसकी यह सेटिका बन जाय? तो कोई दूसरी सेटिका अलग नहीं है। किन्तु समझने के लिए उसमें स्वस्वामी अंश माना गया है। कहते हैं कि ऐसा निर्बल स्व स्वामी सम्बन्ध माननेसे क्या फायदा है कि जिसका कोई अर्थ ही न निकले। कहते हैं

कि कुछ फायदा नहीं है। तब यह निर्णय हुआ कि सेटिका सेटिका ही है। उसमें यह मत खोजो कि सेटिका किसकी है? जो-जो है उसको जानते जावो। वैसे यह देखने की गुञ्जाइश ही नहीं है कि कौन किसका है? तुम कहते हो कि भींतकी सफेदी है तो हम कहते हैं कि सफेदीकी भींत है। तो अन्तर क्या आ गया? स्वरूपदृष्टि करने वाले जानते हैं कि कोई किसीका नहीं है। सब हैं, अपने स्वरूपमें हैं।

श्रद्धाता व श्रद्धेय परद्रव्यका असम्बन्ध— इसी प्रकार जरा श्रद्धाके सम्बन्धमें विचार करें, श्रद्धान करने वाला यह आत्मा श्रद्धान किए जाने वाले जीवादिक ६ द्रव्य ७ तत्त्व ९ पदार्थ इनका यहां श्रद्धान् करने वाला कुछ है क्या? द्रव्य द्रव्यमे द्रव्यके ढंगसे देखो तो कुछ नहीं है और इस विधिसे भी देखो कि क्या यह आत्मा किसी परद्रव्यका श्रद्धान करता है। तो यह भी बात नहीं है कि यह आत्मा परद्रव्यका श्रद्धान करता है। अपने से बाहर अपने श्रद्धा गुणका परिणमन यह जीव कर नहीं सकता, अर्थात् श्रद्धेय जो बहिर्भूत जीवादिक पदार्थ हैं उनका निश्चयसे श्रद्धान करने वाला आत्मा नहीं है। यदि निश्चयसे श्रद्धान करने वाला होता तो उसका अर्थ यह हुआ कि यह आत्मा परद्रव्यमे तन्मय हो गया। निश्चयसे परिणाम और परिणामी एक होता है।

श्रद्धाता व श्रद्धेय परद्रव्यमें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धका भी अभाव— व्यवहारसे जो निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध निरखा जाता है यहा तो वह निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध भी नहीं है कि आत्मश्रद्धान करे सो हो गया कार्य और बाह्य पदार्थोंकी श्रद्धा करे सो बाह्यपदार्थ हो गए निमित्त। इतनी भी बात नहीं है किन्तु श्रद्धारूपसे परिणत हुए आत्माके श्रद्धान कार्यके लिए आश्रयभूत हैं जीवादिक पदार्थ।

दृष्टान्तपूर्वक श्रद्धाता व श्रद्धेय परपदार्थके निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धके अभावका समर्थन— जैसे कोई पुरुष कुटुम्बसे राग करता है तो उस पुरुषके रागका निमित्त कुटुम्ब नहीं है किन्तु रागरूपसे परिणत हुए पुरुषका आश्रयभूत है वह कुटुम्ब। जैसे कोई द्वेष करता है किसी अन्य पुरुषसे तो वह अन्य पुरुष द्वेष परिणामका निमित्त नहीं है। निमित्त तो द्वेष परिणाम का क्रोधादिक कषायका उदय है। पर वह अन्य पुरुष द्वेष रूप परिणत हुए पुरुषके द्वेषरूप कार्यका आश्रयभूत है अर्थात् किसका लक्ष्य करके, किसको उपयोगमें लेकर यह द्वेषरूप परिणमन बना रहा है? उसका उत्तर है वह परपदार्थ। इसी तरह यह आत्मा जीवादिक पदार्थों का श्रद्धान करता है तो जीवादिक पदार्थ श्रद्धानके निमित्तभूत नहीं हैं,

श्रद्धानके निमित्तभूत तो श्रद्धानके आवरक जो ७ प्रकृतियां हैं उन ७ प्रकृतियोंका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपसम है।

श्रद्धाता व आश्रयभूत श्रद्धेय परपदार्थका सम्बन्ध मानने पर अनिष्टापत्ति— ये जीवादिक पदार्थ श्रद्धानरूपसे परिणत हुए जीवके श्रद्धान कार्यके आश्रयभूत हैं। इन आश्रयभूत जीवादिक पदार्थोंका और श्रद्धानरूप परिणत आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है, अर्थात् स्व स्वामी सम्बन्ध नहीं है। यह श्रद्धाता परद्रव्यका है या परद्रव्यका कुछ बने, ऐसा वहां सम्बन्ध नहीं है। यदि सम्बन्ध माना जाय तो विचार करो कि तत्त्व थे श्रद्धानरूपसे परिणत यह आत्मा और इस आत्माके व्यवहारसे श्रद्धानमें आ गये जीवादिक बाह्यपदार्थ, ये क्या कुछ लगते हैं? यदि यह श्रद्धाता आत्मा जीवादिकका कुछ होता तो स्वामी ही मुख्य रहता है, स्व विलीन होता है। जैसे व्यवहारमें स्वामीकी प्रधानता है स्वकी नहीं है, इसी तरह भिन्न वस्तुवोंमें स्व स्वामी सम्बन्ध न मानना होता तो जिसको सम्बन्धी माना गया वह तो हो जायेगा प्रधान और जो स्व माना गया वह हो गया गौण। तो यह श्रद्धान करने वाला यदि जीवादिक पदार्थोंका है तो जीवादिक पदार्थ तो अपनी सत्ता रखेंगे और यह श्रद्धान करने वाला विनिष्ट होगा किन्तु कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्यरूप परिणम ही नहीं सकता, किसीका उच्छेद हो ही नहीं सकता। इस कारण यह श्रद्धाता जीवादिक पदार्थोंका नहीं है।

परमार्थतः श्रद्धानके श्रद्धानका स्वामित्व— जब यह श्रद्धाता जीवादिक पदार्थोंका नहीं है तो पूछा गया कि यह श्रद्धान फिर किसका है? तो यह श्रद्धान श्रद्धानका है। जैसे निश्चयसे आत्मा परको जानता नहीं है किन्तु अपने आपके परिणमनको जानता है। इसी प्रकार निश्चयसे यह आत्मा परद्रव्यका श्रद्धान नहीं करता किन्तु श्रद्धागुणका जो परिणमन है उस परिणमनरूपसे यह श्रद्धाता हुआ करता है। यहां यह बात स्पष्ट जान लेना चाहिए कि यह आत्मा निश्चयसे आत्माका ज्ञाता है और व्यवहारसे परका ज्ञाता है। इसका अर्थ यह नहीं करना। आत्माको जानता है यह तो सच है और परको जानता है यह झूठ है, यह अर्थ नहीं है, किन्तु अर्थ यह है कि परका जाननरूप ग्रहण ज्ञान विकल्परूपसे हुआ करता है। यह परसे तन्मय नहीं हो जाता। यह जानता हुआ अपने आपकी वृत्तिसे ही तन्मय होता है।

सोदाहरण श्रद्धाकी अपनेमें तन्मयताका वर्णन— जैसे हम यहीं जो कुछ अपने ज्ञानका परिणमन कर रहे हैं इसको हम बताना चाहें कि

हम क्या जान रहे हैं, तो हम बाह्य वस्तुका नाम लेकर ही कह सकेंगे कि हम कमरा खम्भा घंटा ये सब जान रहे हैं, पर निश्चयसे मेरा ज्ञान मेरे आत्मप्रदेशको छोड़कर इन बाह्य घटा खम्भा आदिमें तन्मय नहीं हो गया। तब निश्चयसे मैंने अपनेको जाना और व्यवहारसे इन परद्रव्योंको जाना। ये परद्रव्य मेरी समझमें आये नहीं हैं यह बात नही है। आये हैं, परद्रव्य का जानना झूठ नहीं है, पर परद्रव्यका जानना स्वके किसी परिणमनसे जाननेमें होता है। सीधा परद्रव्यमें यह ज्ञान अपना उपयोग करता हुआ परद्रव्यमें तन्मय होता हो ऐसा वहा नहीं है। इसी तरह श्रद्धा करने वाला यह आत्मा श्रद्धेय जीवादिक पदार्थोंका कुछ नहीं है। उन जीवादिक पदार्थोंमें यह श्रद्धा नामक गुण व पर्याय तन्मय नहीं है। यह तो अपने आपके गुणमें ही तन्मय है। सम्यग्दर्शन सम्यग्दर्शन ही है और वह अपने स्वरूपसे ही अपना परिणमन कर रहा है।

इस प्रकरणका प्रयोजन-- यहा यह चर्चा जो कई दिनोंसे चल रही है इसका प्रयाजन इतना है कि भाई वस्तुकी स्वतत्रताको देखो--वस्तुकी स्वतत्रताको समझे बिना जीवका मोह हट नहीं सकता और मोहको हटाने से ही जीवका कल्याण है। जीव तो परिपूर्ण अपने गुण स्वरूप शाश्वत विराजमान है। उसका कहीं अधूरापन नहीं है, पर मान्यतामें अयथार्थ बात है वह मान लिया इससे उसे कष्ट है। यह ससार विडम्बना यह अपने आत्माका जैसा स्वरूप है, उससे पृथक् है, वैसा मानलें और बाह्यमें सभी पदार्थ जैसे अपने स्वरूपमें हैं उन्हें वैसा जानले तो इसके मोह रह नहीं सकता।

जबरदस्त व्यामोह-- भैया! अनन्त जीवोंमे से सभीको छोड़कर जो दो एक जीवोंसे यह मेरा है ऐसी मान्यता की है यह मोहका, मूढताका ही तो प्रमाद है अन्यथा बतावो अनन्त जीवोंमे से दो एक जीवोंमे कौन सी बड़ी विशेषता आयी? क्या स्वरूप भी सब जीवोंसे इन दो जीवोंका अद्भुत है? या किसी अन्य जीवकी परिणतिसे मेरेमे कोई परिणमन हुआ क्या, अन्य जीवोंकी भांति ऐसी इस परिजनके जीवकी हालत नहीं है क्या? इसके परिणमनसे क्या मुझमें कोई परिणमन हो जाता है। सारी बात ज्योंकी त्यों है। जैसा अन्य जीवके साथ इसका निर्णय है वही निर्णय इन दो एक जीवोंके साथ भी है, पर अनन्त जीवोंमें से इन दो एक जीवोंको अपना मान लेना यह जबरदस्त व्यामोह है और ससारमें रुलते रहनेका एक साधन है। जैसे कि अनादिसे अब तक करते चले आए हैं वही बात है।

अपनी यथार्थ सूझ— तो विलक्षण कहिए, अपना विलक्षण परिणमन कहिए एक यही है निर्मोहता प्रकट होना। इस मोहने इस आत्माको अपने आपमें नहीं ठहरने दिया। और यहांसे भाग भागकर अर्थात् इस उपयोगसे बहिर्दृष्टि रूप करा कर बेचैन कर रहा है यह मोह। मोह रागद्वेष ये ही मात्र हमारे दु:खके कारण हैं। दूसरा कोई पुरुष हमारे दु:खका कारण नहीं है। कोई कुछ बर्तो, कोई कुछ करो, कोई किसी तरह रहे उससे यहां सुख दु:ख नहीं है, किन्तु अपनी कल्पना बना उस कल्पना से सुख मान लेता है और उसही कल्पनासे दु:ख मान लेता है। मुझे सुखी दु:खी करने वाला दूसरा नहीं है। साथ ही मैं भी किसीको सुखी अथवा दु:खी करने वाला नहीं हूं। जिसका जैसा पुण्योदय है उसके अनुसार उसको वैसा ही साधन मिल जाता है। उन्हीं साधनोंमें से अपने आपको समझ लीजिए।

परसेवामें पुण्योदयकी निमित्तता— भैया! कोई किसी दूसरेका कुछ करता नहीं है किन्तु दूसरेके पुण्योदयका निमित्त है इस लिए सेवक बनना पड़ता है। करता कोई कुछ नहीं है। सब चाकरी कर रहे हैं। जैसे मालिक का पुण्योदय है तो हजारों लोग चाकरी कर रहे हैं, तो हजारों नौकरोंके भी पुण्योदयका उदय है कि मालिकको भी उनकी चाकरी करनी पड़ती है, उनका ढग जुदा-जुदा है। कोई किसी ढगसे चाकरी करता है कोई किसी ढंगसे चाकरी करता है। तो ऐसी वस्तुकी स्वतंत्रताका जब अपने आपमें परिज्ञान होता है तब इस जीवको मोक्षमार्ग मिलता है, उससे पहिले मोक्षमार्ग नहीं मिलता है। इस प्रकार इन चार गुणोंके सम्बन्धमें ज्ञानगुण, दर्शनगुण, चारित्रगुण और श्रद्धागुण—इन चार गुणों का आश्रय लेकर यह बात बतायी गयी है कि यह जीव निश्चयसे परद्रव्य का कुछ नहीं लगता।

परकर्तृत्वके भ्रमकी संभावित बुनियाद— व्यवहारसे परका ज्ञाता है, ऐसा मानकर धीरे-धीरे इससे और बढ़कर लोगों ने यह समझ लिया है कि यह परका कुछ करने वाला है। जैसे कुछ लोग कहते हैं कि ईश्वर की मर्जी बिना पत्ता भी नहीं हिलता। इसको क्या इस तरह नहीं कहा जा सकता कि प्रभुके ज्ञानमें जो आया है वही होता है। यद्यपि इस प्रसंगमें प्रभुका जानन कारण नहीं है वस्तुके उस प्रकार होनेमें, बल्कि प्रभुके जाननमें आश्रयभूत पदार्थका परिणमन होना है। परपदार्थके परिणमन में आश्रयभूत प्रभुका ज्ञान नहीं है लेकिन जब एक ज्ञात अवस्था ज्ञानी मानो जानली कि अमुक बात होगी तो अब यह कहा जा सकता है

यह विलीन होना क्या कहलाया ? यह विलीन हुई पूर्व पर्यायका विलीन होना उत्तर पर्याय रूपसे हो जानेका नाम है। यह विलीनता विलक्षण है। इस विलीनतामें पूर्व पर्याय न बाहर जाकर विलीन हुई, न भीतर पड़ी है किन्तु उस पूर्वपर्यायका अब नाम ही नहीं है। वह तो निरन्तर पर्यायरूप हो गया, सो वह शात है।

विकारकी विलीनता-- इसी तरह भ्रमकी अवस्थामें व्यवहारको ही परमार्थ माननेकी अवस्थासे यह जीव विह्वल व्याकुल हो रहा है। जहा इसकी भ्रमरूप अवस्था मिटी कि यह आत्मा शात हो जाता है। परका मैं ज्ञाता हूं, परका द्रष्टा हू, परका त्यागी हू, परका श्रद्धान करने वाला हू, ये सब आशय परका कर्ता हू। इस आशयके छोटे छोटे नाती पोते हैं। इन्हीं आशयोंसे बढ़-चढ़ कर यह जीव कर्तृत्व पर अपना राज्य बिछा देता है। इस कारण यहा मूलतत्त्वको समझ लीजिये, ताकि किसीके कर्तृत्व-भावकी गुंजाइश न रहे, इस आशयसे इस प्रकरणमें अब तक निश्चय दृष्टिसे यह कहा गया है कि यह जीव न परका ज्ञायक है, न परका दर्शक है, न परका त्यागी है और न परका श्रद्धान करने वाला है।

वस्तुके सभी गुण पर्यायोंका परवस्तुसे असम्बन्ध— यह चातुष्क एक उपलक्षणरूप कथन है, अनेक बातें भी इसके साथ लगाते जावो। यह परका आनन्द करने वाला भी नहीं है, यह जीव अपना ही आनन्द करने वाला है। यह भोजनका आनन्द नहीं लूट सकता, यह वैभव सम्पत्ति का आनन्द नहीं लूट सकता क्योंकि आनन्दनामक गुण इस आत्माके प्रदेशमें है और उसका परिणमन आनन्दगुणमें ही हुआ। तो अपनेमें ही आनन्दगुणका परिणमन किया, अपना ही इसने मौज लिया। परका यह जीव मौज भी नहीं ले सकता। किन्तु देखो लौकिक जीवोंमें यह आशय खूब भरा हुआ है कि मुझे घरका सुख है, कुटुम्बका सुख है, धनका सुख है, किन्तु भैया! इसको किसी भी परवस्तुसे सुख आ ही नहीं सकता है। जितना जो कुछ हर्ष और विषाद आता है वह अपने ही गुणके परिणमन रूप है ऐसी वस्तुकी स्वतंत्रता ज्ञात होने से यह जीव मोक्षमार्गमें चलता है और शाति लाभ प्राप्त करता है।

एवं तु णिच्छयणयस्स भासियं णाणदंसणचरित्ते।
सुणु ववहारणयस्सय वत्तव्वं से समासेण ॥३६०॥

दर्शन और श्रद्धानके वाचकका शब्दसाम्य-- उक्त चार गाथावोंमें चार बातें बतायी गयी हैं—ज्ञायक, दर्शक अपोहक और श्रद्धाताका पर-द्रव्यसे कोई सम्बन्ध नहीं है। बतायी तो गयी चार बातें और इस

गाथामें यह कह रहे हैं कि ज्ञान, दर्शन और चारित्रमें निश्चयनयका वर्णन बताया है तो एक कौन सा खो दिया इसमें ? अगर कोई खो दिया है तो क्या जिसको नहीं कहा है क्या उसका परद्रव्यसे सम्बन्ध है ? चारोंका परद्रव्यसे कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर भी इस संधि वाली गाथामें तीनका जिक्र किया है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्रके सम्बन्धमें निश्चयनयका वचन कहा गया है, पर तीन ही नहीं समझना। इन तीनोंमें चारों ही शामिल हैं। दर्शन शब्द दर्शन शब्दके लिए आता है और सम्यग्दर्शनके लिए भी आता है। इसलिए शब्दसाम्यमें इन तीनोंमे चारों ही कहे गए हैं।

दर्शन और सम्यग्दर्शनका निकट सम्बन्ध— एक दर्शन शब्दके प्रयोगसे यह भी ध्वनित होता है कि सम्यग्दर्शन और दर्शनका कुछ निकट सम्बन्ध है, यह दर्शनगुण जो चेतनाका भेदरूप है, सामान्य चित् प्रतिभास है उस दर्शनका और श्रद्धागुणके समीचीन पर्यायरूप सम्यग्दर्शनका निकट सम्बन्ध है और उस सम्बन्धको संक्षिप्त शब्दोंमें कहा जाय तो यह कहा जा सकता है कि दर्शनका दर्शन सम्यग्दर्शन है। दर्शनगुणने इस ज्ञायक आत्माको अपने प्रतिभासमें लिया है। इस दर्शन गुणका जो विषय कहा है उसको आत्मरूपसे देखनेका नाम सम्यग्दर्शन है।

अज्ञानीको दर्शनके जौहरका अविश्वास— दर्शन सभी जीवोंके होता है। मिथ्यादृष्टिके भी दर्शन है, सम्यग्दृष्टिके भी दर्शन है और अरहंत सिद्ध भगवानके भी दर्शन है। मिथ्यादृष्टिके दर्शन बराबर होता रहता है अन्तर अन्तर्मुहूर्त बाद दर्शन परिणति होती रहती है। फिर भी इस अज्ञानी मिथ्यादृष्टिको दर्शनके जौहरका विश्वास नहीं होता। इसी कारण उसके सम्यग्दर्शन नहीं कहा है और सम्यग्दृष्टिको दर्शनके जौहरका पता हो जाता है, वह दर्शनके विषयका आत्मरूपसे श्रद्धान कर लेता है, इसलिए उसके सम्यग्दर्शन होता है। जैसे किसी बड़ी चीजके लोभमे आकर कमरे से उठकर बाहर जायें और कमरे की चौखट, दिरौंदा थोड़ा सिरमे लग भी जाय तो चूँकि उस बड़ी चीजका लोभ बहुत तेज सता रहा है सो उस चीजमें ही उपयोग है, उस चीजकी आसक्तिके कारण उस चौखटकी चोट महसूस नहीं हो पाती है। क्योंकि किसी बड़ी चीजके लोभमें वह रंगा हुआ है। चौखट तो सिरमें लग गयी पर कुछ भी भान नहीं है, इसी तरह परद्रव्य ज्ञेयका लोभी मिथ्यादृष्टि जीवके भी अन्तर अन्तर्मुहूर्तमें दर्शन होता रहता है, आत्मस्पर्श होता रहता है, किन्तु परद्रव्य ज्ञेयमें इसको तीव्र लोभ है, आसक्ति है। इस कारण इसे अपने दर्शनका, आत्मस्पर्शका भाव नहीं हो पाता।

विषयसुखकी धुनमें सुअवसरका अनुपयोग-- जैसे कोई विषय सुखकी धुनि वाला और विषय सुखमे प्रवृत्ति रखने वाला किसी सुन्दर अवसरसे लाभ नहीं उठा पाता है कि वह अपने शांतिपथका लाभ उठाये। इसी तरह विषय सुखकी धुनिमें रहने वाला यह जीव पाये हुए इस दर्शन के शुभ अवसरका लाभ नहीं उठा पाता है।

विपरीत धुनमें अभीष्टके विच्छेदका एक दृष्टान्त-- एक धनका लोभी धन जोड़नेकी फिक्रमें यहा वहां दौड़ रहा था। एक मनुष्यने बताया कि तुम यहा वहा क्यों दौड़ते भागते हो, देखो अमुक पहाड़में पारस पत्थर भी पड़ा हुआ है, उस पारस पत्थरसे जितना चाहे लोहेको सोना बनाते जावो, क्यों व्यापारादिमें कष्ट उठाते हो ? उसके मनमें यह बात समा गयी। वह चला गया पहाड़के पास दो चार गाड़ियां लेकर और वहासे पत्थर बीन कर समुद्रके किनारे जोड़ दिया। बड़ा भारी ढेर पत्थरोंका लगा दिया और समुद्रके किनारे लोहेकी मोटी निहाई जैसी गाड़ दिया यह परीक्षा करनेके लिए कि इस लोहेमें पत्थर मारेंगे जिस पत्थरसे यह लोहा सोना हो जायेगा वही पारस पत्थर होगा। उससे ही फिर मन माना सोना बनायेंगे। सो वह उस लोहामें पत्थर मारे और देखे कि सोना हुआ कि नहीं। यदि सोना नहीं हुआ तो उस पत्थरको वह फेंक दे। यदि समुद्र के किनारे नहीं बैठना तो जितना ढेर इस ओर था उतना ही ढेर इस ओर लग, जाता तो परखनेमे दिक्कत होती।

अन्य धुनमें अभीष्टविच्छेदके प्रदर्शनपूर्वक दृष्टान्तका समर्थन— अब वह पत्थर उठाये, निहाईमें मारे, देखे कि लोहा सोना नहीं हुआ तो उसको समुद्रमें फेंक दे। अब १० हजार पत्थरोंमें एक पारसका भी पत्थर था सो जब लोहा सोना न हो तो उसकी धुनि बन गयी जल्दी जल्दी करनेकी। पत्थरको निहाई पर मारे और समुद्रमे फेंके, निहाई पर मारे और समुद्रमें फेंके। यह धुनि बन गयी उसकी और जरा जल्दी जल्दी करने लगा, उठाया, मारा, फैंका, इस धुनिमें इस प्रवृत्तिमें एक बार पारस भी हाथमें आ गया सो उसी धुनिमें उस पारसको उठाया, मारा और फैंका। फेंकनेके बाद देखा कि यह तो सोना हो गया, तो पछताता है कि अब क्या करें, धुनिमें रहकर उस पारसका अवसर भी खो दिया। इसी प्रकारमें आत्माकी अन्तरअन्तर्मुहूर्त बाद सम्यग्दर्शनके अवसर आ रहे हैं अर्थात् दर्शन अपना परिणमन कर रहा है लेकिन विषयसुखकी धुनमें रहनेके कारण अज्ञानी जन उस अवसरको बराबर खोता रहता है।

दर्शनमें दोनों दर्शनके महत्त्वका निर्णय— भैया ! ज्ञानगुणके परिण-

मनमें तो विकल्प रहते हैं। वे विकल्प परवस्तुके ग्रहणरूप हैं, रागद्वेषरूप नहीं हैं किन्तु दर्शनगुणके परिणमनमे परके ग्रहणका भी विकल्प नहीं है। यह दर्शनगुण तो ज्ञेयाकार परिणमता हुआ इस ज्ञायक आत्माका स्पर्श कर लेना है, सामान्यप्रतिभास लेता है, उसका कारण मालूम होता है कि दर्शनके साथ सम्यग्दर्शनका निकट सम्बन्ध है, अतएव ये चार बातें कही जाने पर भी इस संधिरूप गाथामें तीन बातोंका नाम लिया गया है कि ज्ञान दर्शन और चारित्रके सम्बन्धमे निश्चयनयका भासित बताया है।

निश्चय और व्यवहारनय— निश्चयनय कहते हैं केवल एक पदार्थ को देखना। उस वस्तुमे जो बात पायी जाय उसको ही निहारना यही निश्चयनयका दर्शन। इस दृष्टिमें एक द्रव्यमें दूसरे द्रव्यके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी ज्ञात नहीं होता है। क्योंकि इस दृष्टिकी दो पर निगाह ही नहीं है। जैसे आंखसे हम जिस ओर देखें वही तो दिखेगा। यदि दाहिनी ओर की भींतको निरखें तो बाईं ओरकी भींत कहां दिखेगी? निश्चयनयके दर्शनमे व्यवहारनयका दर्शन नहीं होता है और व्यवहारनय के दर्शनमें निश्चयनयका भी दर्शन नहीं होता है, फिर भी किसी एकके मुख्य होनेपर दूसरेके विषयको निरखने की बात भी अन्तरमे पड़ी रहती है, इसे कहते हैं सापेक्ष बनना।

व्यवहारनयकी सत्यता और असत्यताका दर्शन— व्यवहारनयका दर्शन असत्य नहीं है पर व्यवहारनय जो कहता है वह किसी एक वस्तुमें नहीं पाया जाता है। इतना ही बतानेका निश्चयदृष्टिके वर्णनका प्रयोजन है। जैसे कर्मोदय और विभावोंका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है यह बात असत्य रंच भी नहीं है, सही है, युक्ति पर उतरने वाली है। आगममें बतायी गई है किन्तु उस प्रसंगमें भी, जो भी कार्य होता है, जो भी एक परिणमन लें वह परिणमन दो मे नहीं पाया गया और स्वरसतः एकमे भी नहीं पाया गया, इस कारण इस निश्चयनयकी दृष्टिमे व्यवहार मिथ्या होता है। यह अभी ज्ञान, दर्शन और चारित्रके सम्बन्धमें निश्चयनयकी बात कही गयी है। इसी प्रकार अन्य गुणोंके सम्बन्धमें जानना।

ज्ञायक आत्माकी निजमें कारकता— यह ज्ञायक आत्मा क्या कर रहा है? ज्ञानकी परिणतिसे परिणम रहा है। क्या यह अपने आत्मासे बाहर भी कुछ कर रहा है? कुछ नहीं कर रहा है। बाहर हो तो करनेका परिणमन भी बाहर सोचा जाय। इसके बाहरमें तो यह ज्ञानगुण है ही नहीं। करेगा क्या? इस कारण इस ज्ञायकने ज्ञायकको ज्ञायकके द्वारा ज्ञायकके लिए ज्ञायकसे ज्ञायकमें ज्ञानपरिणमन किया, इससे बाहर इस

आत्माने कुछ नहीं किया। यह निश्चयनयका भाषित वचन है और इस परमार्थदृष्टिसे देखा जाय तो यह जानने वाला इस जानते हुएको जानता रहता है। इससे बाहर और कुछ नहीं करता है। ऐसा करता भी है इस जानते हुएके द्वारा ही, किसी दूसरे साधनके द्वारा ऐसा नहीं करता है। जाननेका प्रयोजन भी जानते रहना भर है और कोई प्रयोजन नहीं है।

प्राकृतिक अमित प्रयोजनकी प्रसिद्धिमें पुद्गलके अभिन्न प्रयोजन का दृष्टान्त— जैसे पुद्गलके अस्तित्वका प्रयोजन क्या है? ये पुद्गल किसलिए हैं? हम तो यह चाहते हैं कि ये पुद्गल न होते तो अच्छा था। कुछ भी इनसे मतलब नहीं और उल्टा दंदफंदमें पड़ गए। सो ये पुद्गल न होते तो अच्छा था, हम तो यही चाहते हैं। ये हैं क्यों? तो अज्ञानी तो उत्तर देगा कि ये हमारे भोगने के लिए हैं, और वे तो काव्य भी बना लेते हैं— 'जिन आलूभटा न खायो, वे काहे को जगमें आयो।' ये सारे पदार्थ भोगने के लिए ही तो हैं और काहेके लिए हैं? अरे जरा सूक्ष्म दृष्टि करके तो देखो—इन पदार्थोंके अस्तित्वका प्रयोजन क्या है? प्रयोजन तो प्रयोजककी बातके लिए हुआ करता है। अन्य वस्तुका अन्य वस्तुके लिए प्रयोजन ढूँढना यह तो वस्तुस्वरूपके विरुद्ध दृष्टि है। पुद्गल है तो इनका भी प्रयोजन बताओ कि जो उस ही पुद्गलके लिए हो। अब ढूँढ लो, अन्य कोई प्रयोजन न मिलेगा। केवल यही प्रयोजन मिलेगा कि अपना परिणमन करते रहनेके लिए ही है और उसके अस्तित्वका प्रयोजन दूसरा कोई नहीं है। अच्छा तो पुद्गलके परिणमनका प्रयोजन क्या है? 'है' का प्रयोजन तो परिणमना है और परिणमनेका प्रयोजन क्या है? क्यों परिणमते रहते हैं ये समस्त पुद्गल? तो परिणमनेका प्रयोजन है "हैपना" बनाए रहना, और दूसरा प्रयोजन ही नहीं है। "है" का प्रयोजन परिणमना और परिणमनेका प्रयोजन "है" रहना, इससे आगे और कोई बात नहीं है।

व्याकरणसे प्रयोजनकी प्रसिद्धि— जो लोग संस्कृत भाषा जानते हैं वे समझ सकते हैं कि होनेका वाचक धातु है भू जिसके भवति भवत भवन्ति रूप चलते हैं। भू सत्तायां। भू का अर्थ क्या है? सत्ता। वैसे प्रसिद्ध अर्थ सत्ता मायने "है" और भू मायने होना। होनेका अर्थ क्या है? है, और है का अर्थ क्या है? होना। सत्ता जिस धातुसे बनता है वह धातु है अस्। जिसके रूप चलते हैं— अस्ति स्तः सन्ति। उस अस् धातुका अर्थ क्या है? तो बताया है अस् भुवि। अस् धातुका अर्थ होना अर्थात् है का अर्थ है होना, और होनेका अर्थ है 'है'। यह क्या परस्परमें

अभिन्न विनिमय है तो होनेका सम्बन्ध 'है' से रहा और 'है' का सम्बन्ध होने से रहा, होनेका अर्थ व्यवहारमें उत्पाद व्यय कहा जाता है। जो है नहीं वह हो गया, उसका नाम "होना" है और जो है सो ही है इसका नाम है "है"। इससे सिद्ध होता है कि "है" का प्रयोजन होना और होने का प्रयोजन "है" है। इसको सैद्धान्तिक शब्दोंमें यों कह लो कि सत् का स्वरूप है उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मकता।

सिद्धान्तमें प्रयोजनका एकाधिकरण— उत्पाद व्ययका प्रयोजन है ध्रौव्य व ध्रौव्यका प्रयोजन है उत्पाद व्यय। साथ ही उत्पाद व्यय न हो तो ध्रौव्य न रहेगा, ध्रौव्य न हो तो उत्पाद व्यय न रहेगा, प्रयोजक न हो तो प्रयोजन न रहेगा।

दृष्टान्तपूर्वक जाननेके प्रयोजनकी प्रसिद्धि— तो जैसे पुद्गलके अस्तित्वका प्रयोजन परिणमना मात्र है, सुखी दुःखी करना, भोगमें आना बिगड़ना ये सब प्रयोजन नहीं हैं, इसी प्रकार आत्मा भी है तो उस आत्मा के भी है का प्रयोजन परिणमना है। अब इसके अन्तरमें जब और विचार करते हैं तो इस विषयको सामने रखिये कि यह आत्मा जानता किस लिए है? वह प्रयोजन बतावो जो च्युत न हो सके, व्यभिचरित न हो सके। कार्य सिद्ध हो ही जाय। कार्य सिद्ध न हो ऐसी बात न आए। ऐसा प्रयोजन बतावो कि यह जानता किस प्रयोजनके लिए है? इस जानने वाले आत्मा का प्रयोजन किसी अन्य वस्तुमें न मिलेगा, वह सब सिद्ध न होगा, इस प्रयोजक ज्ञाताका प्रयोजन जाननभर है। यह जानना है जाननेके लिए जानता है।

बच्चोंके जाननेका प्रयोजनरूप एक मोटा दृष्टान्त— जैसे कोई कई चीजें खोलकर बैठ जाय संदूकसे निकाले और पासमें ४–५ बच्चे हैं तो वे उन चीजोंको देखे बिना चैन न पावेंगे। उनकी उत्सुकता होती है कि हम देख लें कि क्या है? वे लड़के रोवेंगे रिसायेंगे पर देखने जाननेको वे बड़े उत्सुक रहेंगे। जब उन बच्चोंको मुट्ठी खोलकर बता दिया कि यह है तो बच्चोंका रूठना, दुःखी होना, बेचैन होना सब खतम हो गया। उनसे पूछो कि तुम क्यों जानना चाहते थे? उन चीजोंको लेनेका अधिकार नहीं, उन चीजोंका कुछ कर सकते नहीं, क्यों उन्हें जानना चाहते? अरे बच्चों की आदत है कि वे जानने के लिए जानना चाहते हैं, इससे आगे उनका कोई मतलब नहीं है। खाने की चीज हो तो खानेके लिए देखना चाहते हैं, कोई चीज ऐसी रख दें कि जो भोगमें न आ सके उसको क्यों जानना चाहते हो बालको! क्यों रूसते हो? अरे जिज्ञासा उत्पन्न हो गयी। उस

जिज्ञासासे उस बच्चेको बड़ा क्लेश है। कोई भी इच्छा हो जाय वह इच्छा कोई बेचैनी ही पैदा करती है। इसीलिए बताया गया कि मोक्षकी भी इच्छा मोक्षकी बाधक है। तो इच्छा जब होती है तब किसी न किसी प्रकारकी बेचैनी होती है और वह जानने से ही मिटती है। इस कारण वे बालक वस्तुको जाननेके लिए जानना चाहते हैं। उनका और कोई प्रयोजन नहीं है। यह एक मोटा दृष्टात बताया है।

जानन और अस्तित्वके प्रयोजनकी सन्धि-- यह ज्ञायक आत्मा जानता है तो उसके जाननका प्रयोजन क्या है ? किस लिए जाना करता है, निरन्तर जाननका श्रम बनाए रहता है और जरा भी गम खाया नहीं जाता थोड़ी देर के लिए। ऐसी क्या आदत पड़ी है कि यह जानना देखना भर रहेगा। यह आत्मा जानता है जानन के लिए। क्या जाननेके लिए ? किसको जाननेके लिए ? जिसको जानता है उस तक का भी रागद्वेष नहीं है तब फिर यह जाननके लिए भी नहीं जानता, किन्तु जानते हुए के लिए जानता है। इन दो बातोंमें भी आतरिक रहस्य है। जाननेके लिए जानने मे कुछ भेदीकरण है और जानते हुएके लिए जाननेमें अभेदीकरण है। तो इस ज्ञाताका प्रयोजन जानना भी नहीं रहा, किन्तु क्या करे ? प्रत्येक परिणमन का प्रयोजन अस्तित्व बनाए रहना है। इस साधारण नियमके साथ मेल करता हुआ यह जाननरूप भी परिणमन उस ही अस्तित्त्व प्रयोजनको घोषित करता है। यह ज्ञायक जानता है, जानते हुएके लिए जानता है।

जाननेका अभिन्न अपादान-- कोई भी क्रिया हो तो कुछ खलबली मचती है और उस खलबलीके आधार दो होते हैं अपादान और अपादेय। अपादान तो वह अश है जो ध्रुव है, स्थिर है और उपादेय वह अश है जो अध्रुव है, निकला हुआ है। जैसे वृक्षसे पत्ता गिरा, तो एक यह क्रिया हुई, खलबली मची, यहा अपादान वृक्ष है और उपादेय पत्ता है। पत्ता गिरा कहासे ? वृक्षसे। इसी प्रकार इस ज्ञायकने जाना तो कहासे जाना ? इस जानते हुए को ज्ञायकने जानते हुएसे जाना। ये दो द्रव्य नहीं हैं जो भिन्न उपादान और उपादेय बताए जा सकें। यह ज्ञायक अपने पुरातन ज्ञायक परिणतिको अपनेमें विलीन करता हुआ उत्तर ज्ञायक परिणतिको करता है और इस उत्पादव्ययका आधारभूत यह ज्ञायक द्रव्य रहता है।

निश्चयदर्शनके पश्चात् व्यवहारदर्शनकी अनुसिद्धि-- ऐसे इस ज्ञायक द्रव्यकी यह साधारण असाधारण बात सबसे निराले अपने आपके

ऐश्वर्यसे भरी हुई है। इसका परद्रव्योंके साथ कोई स्व-स्वामी सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार इस ज्ञान, दर्शन, चारित्र और श्रद्धानके सम्बन्धमें वर्णन किया गया है। अब व्यवहारनयसे इसकी क्या स्थिति है? इस बातका वर्णन चलेगा। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और श्रद्धान विषयक परपदार्थोंके साथ ज्ञायक, दर्शक, अपोहक, श्रद्धाता आत्माके सम्बन्धकी क्या नीति है? इस विषयमें व्यवहारनयसे वर्णन किया जा रहा है। इस वर्णनमें यह निर्णय रखना कि व्यवहारनयकी यह दृष्टि है और व्यवहारनयमें अनेक पर दृष्टि होती है। एक दूसरेके सम्बन्धको बतानेकी बात व्यवहारनयमें चलती है।

व्यवहारके मूल प्रकार— व्यवहार दो प्रकारसे होता है—तोड़का और एक जोड़का। अखण्ड आत्मामें यह ज्ञान है, यह दर्शन है, यह चारित्र है इस तरह स्वभावके खण्ड बनाना, उसे तोड़ना यह भी व्यवहार है और जो बात आत्मामें स्वभावतः नहीं पायी जाती है ऐसी चीजको आत्मामें जोड़ना यह भी व्यवहार है। सो प्रथम तो इस आत्मामें यह ज्ञान है, यह दर्शन है, यह चारित्र है, यह श्रद्धान है। इस तरह तोड़रूप व्यवहार किया, अब उस तोड़के साथ जोड भी लगाया जा रहा है कि यह परद्रव्यका ज्ञाता है, परद्रव्यका द्रष्टा है, यह तोड़रूप व्यवहारके साथ-साथ जोड़रूप व्यवहार लगाया जा रहा है। अब यहा यह देखो कि व्यवहारकी दृष्टिसे यह जीव परद्रव्यको किस प्रकार जानता है?

जह परदव्वं सेडिदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं जाणइ णायावि सयेण भावेण ॥३६१॥

दृष्टान्तमें निश्चयके अविरोधपूर्वक व्यवहारका प्रदर्शन-- जैसे सेटिका अपने स्वभावसे भींतादिक परद्रव्योंको सफेद करती है। इसही प्रकार यह ज्ञाता आत्मा अपने स्वभावसे परद्रव्योंको जानता है। जैसे वही खड़िया जिसको कि निश्चयदृष्टिसे देखने पर इस प्रकारसे देखा गया था कि यह खड़िया अपने आपको सफेद कर रही है। इस खड़ियाका इस भींतके साथ स्वस्वामित्व सम्बन्ध नहीं है, उसही खड़ियाके सम्बन्धमें व्यवहारदृष्टिसे यह तका जा रहा है कि यह खड़िया है तो अपने आपमें सफेद गुणकर भरपूर स्वभाव वाली और इस स्थितिमें जो कि भींतके ऊपर बहुत पतले रूपमें फैली है यह भींतादिक परद्रव्योंके स्वभावसे नहीं परिणम रही है। यह सफेदी अपने ही श्वेत गुणके स्वभावसे परिणमी है, फैली है, भींतके स्वभावको ग्रहण करती हुई नहीं फैली है और साथ ही इन भींतादिक परद्रव्योंको यह खड़िया अपने स्वभावसे नहीं परिणमा

रही है अर्थात् श्वेतगुणसे नहीं परिणमा रही है। फिर भी इतनी बात तो देखो जा रही है कि खड़िया जो इस प्रकार बहुत पतले रूपमें ऐसी विस्तृत हो गई है भींतादिक परद्रव्योंका निमित्त पाये बिना तो नहीं हुई। भींत है तो उस पर खड़िया इतनी पतली फैल गई है।

दृष्टान्तमें व्यवहारका कथन— यह सेटिका अपने ही श्वेत गुणकर भरे हुए स्वभावके परिणमनसे उत्पन्न हो रही हुई यह सेटिका परमार्थसे क्या कर रही है? इसकी दृष्टि न करके व्यवहारदृष्टिसे देखो भींत और सफेदी इन दोनोंका सम्बन्ध निगाहमें रखकर देखो तो यह खड़िया अपने स्वभावसे इस भींतको सफेद कर रही है ऐसा व्यवहार होता है क्योंकि सेटिकाके निमित्तसे इस भींतका ऐसा दिखावा बना हुआ है, इस प्रकारके निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धके कारण इस सेटिकाको और भींतको सफेद करनेका व्यवहार बनता है।

निश्चयके अविरोधपूर्वक परके ज्ञातृत्वरूप व्यवहारका प्रदर्शन— इस ही प्रकार इस ज्ञाता आत्माके सम्बन्धसे भी देखो कि यह ज्ञाता आत्मा तो अपने ज्ञानगुण कर भरे हुए स्वभाव वाला है, जैसे खड़ियामें सिवाय सफेदीके और कुछ नजर नहीं आता है इस ही प्रकार आत्मामें ज्ञानप्रकाश के अतिरिक्त और कुछ सिद्धि नहीं होती है। यह आत्मा ज्ञान गुणकरि भरपूर स्वभाववाला है। लेकिन यह स्वयं पुद्गल आदिक परद्रव्योंके स्वभावको नहीं परिणमा रहा है। जो खड़िया है उसकी यह खूबी है कि वह अपने सत्त्वके कारण निरन्तर परिणमती रहती है, वह दूसरे पदार्थके सत्त्व पर आधारित नहीं है। सो यह ज्ञान ज्ञेयभूत परद्रव्यके स्वभावसे नहीं परिणम रहा है। और इसके ज्ञेयभूत पुद्गल आदिक परद्रव्योंको देखो—यह ज्ञान अपने स्वभावसे नहीं परिणमा रहा है, फिर भी ज्ञान और ज्ञेयभूत परपदार्थमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, वह कैसे कि परद्रव्यके निमित्तसे आत्मा अपने ज्ञानगुणके स्वभावके परिणमनसे उत्पन्न हो रहा है। जहां निमित्त शब्द बोला जाय वहां शीघ्र ही यह धुनि मनमें रहनी चाहिए कि यह परका करने वाला नहीं है। वह ज्ञेयभूत परद्रव्यके आश्रयसे अथवा निमित्तसे आत्मज्ञान गुणरूपसे परिणमा, सो यह व्यवहार किया जाता है कि ज्ञाता ने अपने भावसे परद्रव्यको जाना।

ज्ञानविकल्पके विषयोंकी अनिवार्यता— भैया! वह जानना क्या जिसमें कोई द्रव्य ज्ञेय न हो फिर तो सांख्य सिद्धान्तकी तरह आत्माका निष्क्रिय परिणाम शब्दमात्र चैतन्यस्वरूप रह जायेगा। जैसे रागद्वेष परिणाम होनेमें कोई परद्रव्य आश्रयभूत हुआ ही करता है। यों ही यदि

कुछ भी पदार्थ ज्ञेयभूत न हो तो ज्ञानका निर्माण ही क्या? फिर अर्थ-विकल्प नाम ही किसका हुआ? जानन ही क्या कहलाया? जहां ज्ञेयभूत कोई द्रव्य ही नहीं फिर जाननस्वरूप ठहर नहीं सकता। सो इस पुद्गलादिक परद्रव्यका निमित्त पाकर ज्ञान गुणकर भरा हुआ यह स्वभाव अपने स्वभावसे परिणम रहा है, लेकिन व्यवहार ऐसा होता है कि यह ज्ञान इन सब पदार्थोंको जानता है। यह ज्ञाता आत्मा इन समस्त बाह्य पदार्थों का है क्योंकि ये पदार्थ जो ज्ञेय हुए हैं ये ज्ञानके विषयमें उपचरित हैं। इस प्रकार इन बाह्य पदार्थोंके सम्बन्धमें यह व्यवहार है कि आत्मा अपने स्वभावसे इन समस्त बाह्य पदार्थोंको जानता है।

सर्वविशुद्ध तत्त्वके ज्ञान बिना अपनी ठगाई— भैया! यह सर्व विशुद्ध अधिकार है जहां पूर्ण विशुद्ध तत्त्व दिखाना है। जो कर्तृत्व भोक्तृत्वसे रहित, परके सम्बन्धसे रहित अनादि अनन्त ध्रुव अखण्ड स्वभाव है उस स्वभावपर यहां दृष्टि दी जा रही है। जगत्के जीवोंको बाहर-बाहरकी बातें समझना तो बहुत आसान लग रहा है, घर कुटुम्ब धन वैभव आदिकी बातें सब इसको आसान लगती हैं और उनमें ही वे अपनी चतुरायी बनाए हुए हैं। पर यह सब चतुराई नहीं है, यह सब ठगाई है। एक आत्मतत्त्वको जाने बिना जो कुछ भी हम अपनेमें बड़प्पन समझते हैं, मेरे इतने मकान हैं, मेरी ऐसी दुकान है, मेरे ऐसा कुटुम्ब है, कुटुम्बके लोग ऐसे विनयशील हैं, इन सब बातोंसे यह जीव जो अपना बड़प्पन मानता है सो समझते तो यह हैं कि बड़ी चतुराईका काम कर रहे हैं किन्तु हो रही है अपनी प्रभुताकी पूरी ठगाई।

हितमय चेतावनी— भैया! क्या है यह वर्तमानका समागम? चार दिनकी चांदनी फेर अंधेरी रात। जब तक मिलन है जब तक राग भरी बातोंका आदान प्रदान है तब तक यह जीव अंधेरीमें भूला हुआ मस्त हो रहा है। पर पर ही रहेगा, पर त्रिकालमें भी निजका नहीं बन सकता है। स्वभाव ही ऐसा पड़ा है, सो परका परिणमन उस परके कारण परका जैसा होना है होगा। परपदार्थ जो समागममें आए हैं वे सब बिछुड़ जायेंगे। वे ठहर न सकेंगे और यह संयोगका आकांक्षी पुरुष, संयोगका आसक्त मोही पुरुष उस समय जब कि वियोग होगा तो इतना दुःखी होगा, इतना अधिक पछतायेगा कि संयोगके उतने बड़े समयका जितना भी सुख पाया है उस सबके अनुपातसे भी महान् क्लेश उसे बिछुड़नेके एक ही दिनमें आ जायेगा। लेकिन यह मोही जीव हठी है, अज्ञानी है। यह अपना हठ कहां छोड़ने वाला है? हठ छोड़ दे तो अज्ञानियोंमें नम्बर न रहे।

मोहियोंकी मोहियोंमें पोजीशनकी निरर्थक चाह— जैसे छलबाज लोग छलवानोंमें छलबाजीमें अपना पहिला नम्बर रखना चाहते हैं और उसमे ही अपनी शान समझते हैं, जैसे चोरजन अनेक उपायोंसे चोरी करके चोरोंमें अपनी चोरीकी कलाको दिखाकर महान् बनना चाहते हैं, जैसे हिंसकजन सांशादिक पर जीवोंको बलपूर्वक मार कर भागने वालोंकी गोष्ठीमें अपनेको कलावान् बताकर महान बनना चाहते हैं इसी प्रकार मोही जीव अपने धन घर परिवार इज्जत पोजीशन लोगोंमें बहुत अधिक जनाकर इन मोहियोंमें अपनेको महान कलाकार चतुर सिद्ध करना चाहते हैं। पर न यह महान् बनने वाला रहेगा और न जिनमें अपनेको महान् बनानेका, बतानेका श्रम किया जा रहा है न वे रहेंगे। सीधी तौरसे यह अपने आपके अनुभवमें लग जाय तो इसमें कुशल है।

सीधा स्वाधीन काम करनेमें ही कुशलता— जैसे जिस चीज पर कोई अधिक प्रेम नहीं है उस चीज पर बालक किस लिए ख्याल करेगा? वह प्रेम ही नहीं करना चाहता। उसे जो काम कहा जाय सीधासा वह काम भी न करना चाहे तो उसका सरक्षक उस बालकको दंड देता है, पीटता है। जब वह बालक हैरान हो जाता है तो उसको कहते हैं कि सीधेसे यह काम कर लो नहीं तो कुशल नहीं है, अभी पिटेगा। इसी प्रकार हे आत्मन्! सीधे-सीधे सही रास्ते से चुपचाप अपनी ओर मुड़कर अपने स्वतत्र अकिञ्चन ज्ञानस्वरूपसे भेंट करलो। इसके निकट बैठ जावो नहीं तो यह सारा जगजाल तुम्हें ही भोगना पड़ेगा। जगत्‌में सोते हुए जीवोंमें अन्य चीजोंका समागम हो जाना बहुत सुगम बात है। होगा ही समागम जहा जायेगा कुछ न कुछ तो पुद्गल पडे हुए मिलेंगे ही तो उन समस्त समागमोंका मिलना तो सुगम है पर अपने सहज स्वरूपका श्रद्धान जो कि अनन्त आनन्द ज्ञान ऋद्धि सिद्धिसे भरपूर है, जो स्वय ही परम वैभव कर सहित है, उसका ज्ञान होना इस जीवको दुर्लभ हो रहा है।

स्वतत्रताके अपरिचयमें क्लेश— कैसा है स्वतंत्र यह ज्ञाता आत्मा? जैसे दीपक अपने आपमें स्वतत्रतासे जगमग होता हुआ टिमिक रहा है, उसे दूसरे पदार्थसे कुछ मतलब नहीं, कोई पदार्थ सामने आए कोई पदार्थ सामनेसे हटे, कैसे ही रग वाला आए, कैसी ही परिस्थिति वाला हो, उस दीपकका कुछ मतलब नहीं है। यह तो अपने स्वरूपसे अपनेमें जगमग करता हुआ निरतर टिमटिमा रहा है, इसी प्रकार यह ज्ञान प्रकाशमय ज्ञाता आत्मा इसको परद्रव्योंसे कुछ प्रयोजन नहीं है। यह तो अपनेमें अपनी सत्ताके कारण जगमग होता हुआ अपनेमें ही निरन्तर

टिमटिमा रहा है, जाननवृत्तिसे परिणम रहा है, इसे परसे कोई प्रयोजन नहीं है। कोई पर जाननमें आए, कैसी ही परिस्थिति बाहरमें हो इस ज्ञाता आत्मासे उन परवस्तुवोंसे कोई मतलब नहीं है। लेकिन अनादिसे छाया हुए इस रागसे, अज्ञानसे अपनी ऐसी महिमाको दृष्टिसे ओझल करके दीन भिखारी आशावान् बन-बन कर यह विभु क्लेश पा रहा है।

असंभवकी हठें— सहारनपुरमें एक जैन बालक था। यह उस समय की घटना है जब जम्बूप्रसाद जी जीवित थे, आमने सामने घर था, तो उनके हाथीको देखकर उस बालकका जी हो गया कि यह हाथी ले ले। जैसे बाजारमें खिलौनोंको देखकर बच्चा हठ कर जाता है—हमको यह खिलौना खरीद दो, तो उसने हठ कर लिया कि यह हाथी हमको ला दो। खैर बालकके पिताने महावतको समझाकर हाथी दुकानके सामने खड़ा करा दिया। लो बेटा हाथी ले आए। तो वह लड़का कहता है कि ऐसे नहीं, इसे खरीद दो। यह तो थोड़ी देरको आया है फिर चला जायेगा। रोने लगा। तो महावतको समझाकर अपने बाड़ेमें खड़ा करा दिया, लो बेटा अब खरीद दिया है। तो अब वह बच्चा कहता है कि नहीं, इसे हमारी जेब में धर दो। अब धर दो जेबमें। बुला ले आवो सब रिश्तेदार, उस बच्चे की मंशा कोई पूरी कर दे। क्या कोई उस बच्चेकी जेबमें हाथी धर सकता है? नहीं। तो जैसे बालक हाथीको जेबमें धरनेकी हठ करता है और उसकी हठकी पूर्ति न होनेसे रोता है, खेद करता है, इसी तरह यह मोही प्राणी अपना उपयोग परद्रव्योंमें लगाता है और अपनी मंशाके अनुसार उनमें परिणमन करनेका हठ कर रहा है।

क्लेशजालका विनाश करने वाला ज्ञान— भैया! परपदार्थकी परिणति इसकी मंशाके मुताबिक हो ही नहीं सकती है। यह अपने घरका राजा है, तो क्या ये सब परपदार्थ अपने स्वरूपके राजा नहीं हैं। कोई परपदार्थ इसकी मंशा मुताबिक परिणम न सके तो यह रोता है, दुःखी होता है, कष्ट उठाता है। यदि यह समझमें आ जाय कि यह इतना बड़ा जानवर जेबमें कैसे आ सकेगा, बालककी ही समझ भीतरमें बन जाय तो उसका रोना बंद हो सकेगा। कहीं मारने पीटने से कि तू बड़ा हठी है, बड़ा मूर्ख है इससे उसका रोना नहीं बंद होगा। उसको ही समझ आ जाय तो उसका रोना बंद हो सकता है। इसी तरह इस मोही जीवको वस्तुके मर्मका पता नहीं है। किसी परके स्वरूपसे नहीं, अपने ही गुणोंमें त्रिकाल रहता है परके गुणोंमें एक क्षण भी इस मर्मका परिचय हो तो क्लेशजाल समाप्त हो सकते हैं, अन्यथा नहीं।

शान्तिका उद्यम— भैया! इन समस्त परपदार्थोंमें मेरे साथ क्या सम्बन्ध है, यह मैं स्वयं ज्ञान ज्योति करि भरपूर सबसे निराला हूं। सो मेरे इस ज्ञातृत्व स्वभावके कारण इन पर पदार्थोंका जानन हो रहा है। केवल ज्ञाता ज्ञेय सम्बन्ध है, मेरा इन सर्व परपदार्थोंके साथ। किन्तु अन्य कारण कार्य आदिक कोई सम्बन्ध नहीं है। तब फिर इन परपदार्थोंके सम्बन्धमें किस परकी हठ करना, इससे क्या लाभ है? मैं अपने ही स्वरूपको निरखूँ, अपने निकट रहूं और समस्त व्यग्रतावों आकुलतावोंसे रहित होऊँ, ऐसी भावना जगे तो इस जीवको शांतिका मार्ग मिल सकता है।

ज्ञानीके अन्तर्लक्ष्यकी अविचलता— इस ज्ञाता आत्माका ज्ञेयभूत परद्रव्यके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकरणसे यह शिक्षा लेनी है कि जब इन पदार्थोंसे सीधा निश्चयसे जानने तकका भी सम्बन्ध नहीं है तो और प्रकारका सम्बन्ध तो त्रिकाल भी नहीं है, सो सर्व परपदार्थोंसे असम्बद्ध निज ज्ञाता आत्माको अपने ज्ञानमें लेना और इस ज्ञायकस्वरूप को ज्ञानरूपमें ही अनुभव करना यही सर्व संकटोंसे मुक्त होनेका सही उपाय है। इस उपायको किए बिना अन्य दृष्टिरूप कुछ भी बातकी जाय किन्तु उन उपायोंसे, निरखनेसे मुक्ति नहीं हो सकती है। सो भाई वह ठीक है जो हमारे एकमात्र ज्ञानदृष्टि रूपके उपायमें सहायक हो सकता हो अर्थात् विरोधी न बने, इसीलिए बाह्य संयम तप, व्रत आदिक करते हुए भी अपने आपके ज्ञानरूप उपायको कभी न भूलना चाहिए।

ज्ञायक आत्माका ज्ञेय परद्रव्य कुछ है या नहीं, इस सम्बन्धमें निश्चय और व्यवहार दोनों रीतियोंसे वर्णन किया जा चुका है। इस सम्बन्धमें कुछ खुलासा यों जानना कि यह आत्मा आत्माका ही है, यह ज्ञायक ज्ञायक ही है और यह अपने आपको जानता है। तो क्या परद्रव्य के बारेमें कुछ नहीं जानता? परद्रव्यके विषयमें जानता है, किन्तु परद्रव्यके विषयमें अपनी ही ज्ञानवृत्तिको ज्ञेयाकार परिणमा कर जानता है, परद्रव्यसे तन्मय नहीं होता। इससे यह भी सही है कि यह ज्ञायक व्यवहारसे परद्रव्यका ज्ञायक है। यह ज्ञायक निश्चयसे अपना ही ज्ञायक है। अब ज्ञानतत्त्वके सम्बन्धमें व्यवहारका निश्चय करके दर्शनगुणके सम्बन्धमें व्यवहारनय क्या कहता है? इस सम्बन्धमें बतलाते हैं।

जह परदव्वं सेडिदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं पस्सइ णायावि सयेण भावेण ॥३६२॥

दर्शनके दृष्टान्तमें निश्चयके अविरोधपूर्वक व्यवहारका प्रदर्शन—

है अतः वह व्यवहार भी ठीक है और चूँकि किसी द्रव्यका गुणपर्याय किसी अन्य द्रव्यमें नहीं पहुचता, इसी प्रकार दर्शक और दृश्य परपदार्थका कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी व्यवहारसे सम्बन्ध जिस दृष्टिसे देखो वैसा ही दिखा करता है। अब यह अपना चुनाव है कि कौनसी दृष्टिसे देखनेमें हमारी भलाई है, किस दृष्टिसे देखते रहनेमें हमारा समय व्यर्थ जाता है। यह एक अपने चुनावकी बात है, पर जिस दृष्टिमें जो ज्ञात हो रहा है वह सत्य है।

दर्शनकी चतुर्विधतामें नेत्रका दृष्टान्त— जैसे मनुष्यके दो आखें हैं। तीन भी आखे होती होंगी? त्रिनेत्री तो महादेवको कहते हैं ना। महादेव मायने बड़ा देव। जिसके देहकी भी दो आखें हों और ज्ञानका नेत्र भी चमक उठा है उसे कहते हैं त्रिनेत्री। तो बाहरसे तो दो ही आंखें हैं। अब इन ही दो आंखोंका कुछ भी निमित्त करके हम चार तरहसे देख सकते हैं। कभी हम दाहिनी आखको बंद करके दाई आखसे देख सकते हैं, कभी हम बाई आखको बंद करके दांई आखसे देख सकते हैं और दोनों आंखोंको खोल करके भी देख सकते हैं और दोनों आखोंको बंद करके भी देख सकते हैं। दोनों आंखे बद करके दिखता है या नहीं? कोई कहेगा कि हा दिखता तो है थोड़ासा उजेलासा और थोड़ा अधेरासा। कोई कहेगा कि न अधेरा दिखता, न उजेला दिखता, किन्तु एक ज्ञानप्रकाश दिखता है।

ज्ञाताको वस्तुधर्मका चार प्रकारसे दर्शन— इसी प्रकार दो आखें है आगममें, एक द्रव्यार्थिकनयकी आख और एक पर्यायार्थिकनयकी आख। द्रव्यार्थिकनयकी आख बद करके हम पर्यायार्थिकनयसे देखते हैं और उस समय हमें यों दिखता रहता है। जग में जो कुछ है सब क्षणिक है, क्षण-क्षणमें नष्ट होने वाला है। जो कुछ है सो एक नहीं है। इस प्रकार देखा करते हैं सब कुछ। जिससे हमें अनित्यभावनामें मदद मिलती है। जो कुछ समागम है वह नष्ट हो जाने वाला है, यह पर्यायार्थिकनयसे देखा जा रहा है। किन्तु जब पर्यायार्थिकनयको बद करके द्रव्यार्थिक नयके नेत्रसे देखेंगे तो इसे कहेंगे यह पदार्थ नित्य ध्रुव अहेतुक सहजस्वरूपमात्र है।

प्रगतिमें नयोंका सहयोग— भैया! नय दोनों सहायक हैं अपने आपमें प्रगतिमें बढनेके लिए। द्रव्यार्थिकनय तो इस जीवको ज्ञानमें बढ़नेके लिए पहिला अवलम्बन है और जो उपादेयभूत है, जिसका आलम्बन करके हम और आगे बढ़े वह द्रव्यार्थिकनय है। अनित्य भावना भानेका प्रयोजन है नित्यको तक लेना, तब अनित्यभावना प्रयोजनवान् है। और यह ही तकते रहें कि जो कुछ है सब मिटता है। सब नष्ट होता है, दल

वन देवी देवता और नाम लेते जावो और जिनसे दुश्मनी हो वे मर जाते हैं, इससे फायदा क्या निकला ? यह तो एक बकवादसा हुआ। यदि प्रयोजनभूत नित्य तत्त्वका स्पर्श न हो तो अनित्य भावना प्रयोजनवान् नहीं है। जब अन्तरमें नित्य भावना भी भरी हो तब अनित्य भावना प्रयोजनवान है।

दृष्टान्तपूर्वक अन्तमर्मकी दृष्टि पर बल— भैया ! ये तो सब अनित्य है। पर नित्य भी है कुछ कि नहीं ? इन सब अनित्योंका आधारभूत स्रोत रूप जो कुछ गुणपुञ्ज है, वह है नित्य। ये सब मिट जाने वाले हैं और मैं भी मिट जाने वाला हूं। तो मिट जाने वाला जो मैं हू उस मिट जाने वालेकी भावना भानेसे कौनसा प्रयोजन निकालेगा ? अजी नहीं, ये सब पर्यायें तो मिट जाने वाली हैं, परन्तु द्रव्य तो शाश्वत अव्याबाधस्वरूप है, उनसे कोई परिवर्तन नहीं होता। ऐसे अविनाशी नित्य तत्त्वका आश्रय बने तो अनित्य भावना भाना सफल हो जायेगा। इस प्रकार पर्यायार्थिक-नयका सही ज्ञान करते हुए फिर हम द्रव्यका बोध करें, दृष्टि करें तो हमारा यह प्रयास प्रयोजन पर पहुचाने वाला हो सकता है।

नय नयन— यहा निश्चय और व्यवहारकी बात कही जा रही है, यही नेत्र है। नयन कहो, नय कहो, चक्षु कहो एक ही बात है। नेत्रका काम है जो ले जाय उसीका नाम नयन है उसीका नाम नय है। हम जब जा रहे हों तो हमारा ले जाने वाला कौन है ? यदि कोई अंधा पुरुष है तो उसको ले जाने वाला कोई दूसरा है जो उसकी लाठी पकडे हुए है, और जो अधा नहीं है उसे ले जाने वाला कौन है ? आंख। तो जो ले जाय उसको आंख कहते हैं। नय भी हमको मायने हमारे उपयोगको ले जाता है। यदि हम हठी हैं, रिसाये हुए हैं तो जानबूझकर गड्ढे में गिर जायेगे। उसमें आखोंका क्या दोष है। इसी प्रकार कोई मोही है, हठी है तो वह किसी नयका हठ करके अकल्याणके गड्ढेमें गिर जायेगा, पर नयने तो अपना ठीक स्वरूप बताया ही है। उसका दोष कुछ नहीं है।

अपेक्षासे यथार्थता – भैया ! क्षणिकवाद जो सुगतमत है, यदि उसकी आंखसे देखें, अपरिणामवाद है, स्वभाववाद है उसकी आंखसे देखें उसके वादके कहनेमें कहीं कोई गड़बड़ है ही नहीं, पर जितनी उसकी एक आंख है उतना ही तो तत्त्व नहीं और भी तो तत्त्व है।

नयकी गौणमुख्यतामें सम्णीसरणका दृष्टान्त— जब आप सीढियों पर चढ़ते हैं तो आप यह बतावो कि आप किसी एक ही सीढ़ीको देखते हैं क्या ? नहीं किसी सीढ़ीको मुख्यतासे देखते हैं तो किसीको गौणरूपसे

देखते हैं, पर एक ही सीढ़ीको देखकर कोई नहीं चढ़ता है। उसकी सरसरी निगाहसे सब सीढ़ी दिख रही हैं, और प्रसंगमें आयी हुई दो तीन सीढ़िया बहुत साफ दिख रही हैं। उनमें से पहली सीढ़ी पर पैर रख लिया तो अब वह गौण हो गयी, वह बिल्कुल हल्की नजरमें रह गयी और जिस सीढ़ी पर चढ़ते हैं वह बहुत स्पष्ट दीखने लगी। इसी तरह, वस्तुस्वरूपके महलमें जाने वाले ज्ञानी पुरुषको नयोंकी सारी सीढ़ियां दिखती हैं। सरसरी निगाहसे सब दिखती हैं और प्रकरणको प्राप्त जितने मतव्योंसे प्रयोजन है वह दिखता है और वहा भी जिस सीढ़ीका अवलम्बन कर रहा है वह मुख्यरूपसे दिखती है और अन्य सीढ़ियां जिनका आलम्बन कर चुका था वे गौणरूपसे दीखती हैं, इसी तरह बहुमुखी स्वभावकी योग्यता वाला ज्ञानी पुरुष वस्तुस्वरूपके महलमें पहुचता है।

आत्माका दर्शकत्व— यह आत्मा परद्रव्योंका दर्शक है, परद्रव्योंके विषयमें ज्ञान किया इस आत्माने और उन सब परद्रव्योंके ज्ञान करने वाले आत्माको देखा दर्शनने, सो इस परम्परासे दर्शन परपदार्थोंको देखा। दर्शनके स्वरूपके सम्बन्धमें दो तीन प्रकारसे वर्णन आता है। कहीं लिखा है कि समस्त पदार्थोंका सामान्य सत्ताका प्रतिभास होना दर्शन है, कहीं लिखा है पदार्थका आकार न ग्रहण करके, पदार्थमें विशेषता न जान करके उनका जो सामान्य ग्रहण है उसे दर्शन कहते हैं। तो कहीं लिखा है कि आत्मप्रकाशको दर्शन कहते हैं, आत्माभिमुख चित्तप्रकाशको दर्शन कहते हैं। इन तीनों प्रकारके लक्षणोंका ध्येय एक है। और अंतमें इस निष्कर्षमें पहुचेंगे कि आत्माभिमुख चित प्रकाशको दर्शन कहते हैं।

सामान्यसत्ताप्रतिभासमें आत्माभिमुख चित्प्रकाश— जैसे कहें कि समस्त पदार्थोंके सामान्य सत्के प्रतिभास को दर्शन कहते हैं। जरा इस प्रकार यत्न तो कीजिए कि पदार्थ विशेष सत्का प्रतिभास न रहे। यदि उपयोगमें कोई परपदार्थ आए तो विशेष ही प्रतिभासित हो गया। विशेष सत्का प्रतिभास न करें, सभी पदार्थोंके विशेष सत्का प्रतिभास छोड़ दें, छोड़दें लेकिन अब क्या दीखा? क्या पदार्थका सामान्य सत्का प्रतिभास हुआ? अरे जहा पदार्थोंका इतना शब्द लगा बैठेंगे तो विशेष-प्रतिभास आ ही जायेगा। विशेष प्रतिभास करनेका यह व्यवसाय किया जा रहा है, तो पदार्थका सामान्य सत् परपदार्थरूप हो गया तो वह विशेष सत् बन जायेगा। इस कारण उस दृष्टिमें जहा सामान्य सत्का प्रतिभास किया जा रहा है वहा प्रतिभासमें केवल चित्प्रकाश ग्रहणमें रहेगा।

निराकार ग्रहणमें आत्माभिमुख चित्प्रकाश— चित्प्रकाश वाली

यही बात दूसरे लक्षणमें है। पदार्थका आकार ग्रहण न करें, अच्छा भाई, नहीं किया। ऐसी स्थितिमें क्या हुआ यह कुछ ढीलासा बनकर बैठ गया। क्योंकि अंतः की कड़ाईमें विशेष प्रतिभास आती है। जब किसी पदार्थका विशेष ग्रहण न करें, आकार ग्रहण न करे उस समय जो सामान्यरूप प्रतिभास होता है वह पदार्थका नहीं होता है, किन्तु वह चित्प्रकाशरूप प्रतिभास होता है।

चित्प्रकाशका अवगम— तीसरे लक्षणको तो सीधा ही कहा गया है। आत्माभिमुख चित्प्रकाशको दर्शन कहते हैं। सुननेमें ऐसा लगता होगा कि आज कुछ कठिन बोल रहे हैं। आत्मा आत्मा आपने सुना नहीं है क्या? प्रकाश, चैतन्य, प्रतिभास इन शब्दोंको कई बार सुना है और कई प्रकरणोंमें सुना होगा, किन्तु जिसके बारेमें कहा जा रहा है उसका ज्ञान हो जाने पर इन शब्दोंका अर्थ स्पष्ट आता है और ज्ञान न होने पर कुछ ऐसा लगता है कि कायदेके मुताबिक बात कही जा रही है और क्या कही जा रही है यह ध्यानमे नहीं बैठता। जैसे बाहुबलि स्वामीकी मूर्तिका वर्णन करें कोई जो श्रवण बेलगोलमे है कि भाई उनकी अगुली इतनी लम्बी है, अगूठा इतना बड़ा है, पैरका अगूठा इतना लम्बा है यह समस्त वर्णन वह करता है, किन्तु जिसने मूर्ति नहीं देखी है, सुनने वाले यही सोचेंगे कि कायदे से बोला जा रहा है, जिसने मूर्ति देखी है उसे ऐसा लगता है कि उसको कह रहे हैं। इसी तरह कुछ थोड़ा अपने आप पर दया कर विषयकषायोंसे मुख मोड़कर कुछ आत्मज्ञानकी दिशामें बढे और सत्यका आग्रह करें और असत्यका असहयोग करें। तो यदि एक बार भी अन्तरमें विराजमान् इस ध्रुव प्रभुके दर्शन हो गए तो ये सब बातें समझमें आयेंगी कि नमकी बात कही जा रही है।

परिचितके अवगमकी विशदता— जैसे कोई पुरुष किसी युवकके बारेमे कुछ कह रहा है, जो लोग उस युवकसे परिचित नहीं हैं वे तो यों जानेंगे कि यह कहा जा रहा है। और जो युवकसे परिचित हैं वह सीधा यों जानता है कि उसकी बात है यह। इसी प्रकार इस ज्ञानदर्शनात्मक चैतन्य तत्त्वार्थका जिसको दर्शन हुआ है, जिसके उपयोगकी भेंट इस प्रभुसे हुई है वह कुछ ही शब्द सुनकर यों समझेगा कि बात इस तरहसे कही जा रही है। तो स्पष्ट समझने के लिए किसी क्षण ऐसा यत्न तो करें, गद्दी पर बैठे हों तो क्या, खाटमें लेटे हों तो क्या, कहीं बैठे हो तो क्या, किसी क्षण तो इन्द्रियोंको संयत करके सबको असार और बरबादीका हेतु जान कर उनके विकल्प तोड़ करके विश्रामसे बैठ जावो, या ऐसी हठ करके

बैठ जावो कि जो मेरा सच्चा स्वरूप है उसे यह मैं ही बताऊँगा तो सुनूँगा, मैं दूसरेकी न सुनूँगा।

क्रान्तिके दो रूप — भैया! सत्यका आग्रह करके बैठ जावो। और असत्य भिन्न जो पर हैं उनका पूर्णरूपसे असहयोग कर जावो अर्थात उन्हें अपने मनमंदिरमें स्थान मत दो। तो यही है अन्यायको मिटा सकने वाला यथार्थ आन्दोलन। इस आत्मा पर क्या अन्याय हो रहा है? इस अन्यायका मुकाबला करना है तो अपनेमें क्रांति उत्पन्न करें और उस क्रांतिके दो उपाय करें - सत्यका आग्रह और असत्यका असहयोग इन्हीं उपायोंसे एक बार अपने आत्मप्रभुकी झलक हो जाय तो यही सब वचन ऐसे लगेंगे कि यह अमुक की बात कही जा रही है।

जिस प्रकार ज्ञायकका ज्ञेयके साथ व्यवहारसे सम्बन्ध है और दर्शकका दृश्य परपदार्थके साथ व्यवहारसे सम्बन्ध है, इसी प्रकार इस त्यागीका त्याज्य परपदार्थोंके साथ व्यवहारसे सम्बन्ध है। उस ही व्यवहार का वचन इस गाथामें कहा जा रहा है।

जह परदव्वं सेडिदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं विजहइ णायावि सयेण भावेण ॥३६३॥

परद्रव्यके त्यागका व्यवहारवचन— जैसे सेटिका अपने स्वभावसे परद्रव्यको सफेद करता है, इस ही प्रकार ज्ञाता भी अपने भावसे परद्रव्यको त्यागता है। यह व्यवहारका भाषित वचन है। जैसे खडिया जो श्वेत गुणकर भरे स्वभाव वाला है, वह भींतादिक परद्रव्योंके निमित्तसे, अपने श्वेतगुणके परिणमनसे उत्पन्न हो रही है, खड़िया परद्रव्यके स्वभाव से नहीं परिणमती और न परद्रव्यको खड़िया अपने स्वभावसे परिणमाती, फिर भी इन दोनोंका परस्परमें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। भींतका आधारभूत निमित्त पाकर यह खडिया इस तरहसे फैल गयी और खड़ियाका निमित्त पाकर भींतका यथार्थस्वरूप तिरोहित हो गया और व्यक्तरूप श्वेत हो गया, ऐसा उनमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। इस ही कारण व्यवहारसे यह कहा जाता है कि जैसे खड़ियाने भींतको सफेदीकी, ऐसे ही इस त्यागपरिणाम वाले आत्माने त्यागकी जाने वाली परवस्तुको त्यागा।

परमें परके त्यागके सम्बन्धका अनमेल— अपोहक आत्मामें और अपोह्य परद्रव्यमें कोई सम्बन्ध नहीं है। यह त्यागी अपने आपमें अपना परिणमन बनाता है। बाह्य वस्तु अपने आपमें अपनी परिणतिसे रहते हैं, इस त्यागीका त्याज्य पदार्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी परवस्तु

का लक्ष्य करके इसने त्याग परिणाम बनाया और त्याग परिणाम बनाने वाले आत्माके परिणमनको लक्ष्यमे लेकर ज्ञानी जीव परवस्तुमे त्याज्य शब्दका व्यपदेश करता है। ऐसा परस्परमें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। इस कारण व्यवहारमें यों कहा जाता है कि ज्ञाता आत्माने परद्रव्यका त्याग किया। शब्दानुसार यह इतना बेमेल कथन है कि त्यागकी तो बात कह रहे हैं और सम्बन्ध जोड़ रहे हैं। जैसे कोई कहते हैं कि मैं अमुकका मित्र हू, अमुकका भाई हूं, कोई कहते कि मैं अमुकका त्यागी हू। तो त्यागकी बात कह रहे हैं और सम्बन्ध जोड़ रहे हैं। जैसे कोई कहे कि यह मेरा मित्र है तो उससे प्यार भरी बात ही तो कही गयी। यह मेरा मित्र है ऐसा कह देनेमें प्यार भरा है और यह मेरा दुश्मन है यह भी प्यार भरी बात है क्योंकि उसे अपना तो बना लिया। मैं अमुकका त्यागी हू, यों कहनेमें किसी परवस्तुका सम्बन्ध जोडा जा रहा है।

अपोहक व अपोह्यमें सम्बन्धव्यपदेशका कारण-- यह आत्मा तो ज्ञान दर्शन गुण कर भरा हुआ और दूसरोंसे हटे रहनेके स्वभाव वाला है। परवस्तुसे यह जीव आज तक कभी मिल नहीं सकता, शकर नहीं हो सकता, निगोद जैसी दशामें भी रहा परन्तु जीवने अपना स्वभाव नहीं तजा। तो दूसरे पदार्थोंसे हटे रहनेका स्वभाव ही है। यह स्वयं पुद्गलादिक परद्रव्योंके स्वभावसे नहीं परिणमता और पुद्गलादिक परद्रव्योंको अपने स्वभावसे नहीं परिणमाता, लेकिन पुद्गलादिक परद्रव्योंके निमित्त से आत्मा आत्मामें ज्ञान दर्शन गुणकर भरे और परसे हटे रहनेके स्वभाव से परिणमता है और इस परसे हटे रहनेके स्वभावसे बर्त रहे आत्माके निमित्तसे यह बाह्य वस्तुमें त्याज्यका विपदेश होता है। यों परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धवश व्यवहारमें यह कहा जाता है कि ज्ञाता आत्मा परवस्तुवोंका त्याग करता है। परवस्तुवोंका यह त्यागी है।

त्यागके मर्मकी अनभिज्ञतामें पूर्ववत् ढर्रा-- भैया! अज्ञानी जीव त्याग करके त्यागके विकल्पको ऐसा चिपटाते हैं कि उनका त्याग हो ही नहीं पाता है और उस त्यागके माने हुए वातावरणमें इतनी ममता होती है कि त्यागके रहस्यसे दूर हो जाते हैं। किसी वस्तुका त्याग किया अथवा जैसे नहा धोकर शुद्ध होकर परवस्तुको छूनेका त्याग किया, अब कदाचित् हम अपनी ओरसे अपने त्यागको भग कर किसी दूसरी चीजको ग्रहण करें तब तो हमारे त्यागमें दोष आया और कोई जबरदस्ती किसी चीजका स्पर्श कराये तो त्यागका वहा भंग कहा हुआ? वह तो शांतिकी एक परीक्षा हो रही है, लेकिन त्यागके विकल्पको जिसने ग्रहण कर रखा है

उसको ऐसे प्रसंगमें क्रोध आ जाया करता है। त्याग किसलिए किया था कि मेरे क्रोध, मान, माया, लोभ— ये चारों कषाय न जगें और इन चारों कषायोंके जगने का माध्यम त्याग बना लिया तो जैसे पहिले थे वैसे ही अब हैं।

त्यागके विकल्पकी ममतामें त्यागसे वञ्चना— एक पुरुष बेवकूफसा था। उसको लोग मूरखचंदके नामसे पुकारा करते थे। सो चिढ़कर वह गाव छोड़कर भाग गया कि इस गावके आदमी बड़े खराब हैं, हमको मूरखचंद कहते हैं। सो गावके बाहर जाकर एक कुँआपर बैठ गया, कुँवा मे पैर लटका लिया और उसकी पाट पर बैठ गया। इतनेमें कोई मुसाफिर निकला। मुसाफिर बोला कि अरे मूरखचंद यहा कहा बैठे हो ? तो वह झट उठकर उस मुसाफिरके गलेमें लग गया। पूछा कि भाई तुमने कैसे जाना कि मेरा नाम मूरखचंद है ? वह मुसाफिर बोला कि मुझे किसी ने नहीं बताया, मुझे तो तेरी करतूत ने बताया। तो जिसको त्यागके रहस्य का पता नहीं है वह त्यागके विकल्पोंको अपनाकर त्यागसे विमुख रहा करते हैं।

त्यागमय अन्त परिणाम— भैया ! जितने भी पर भाव हैं वे सब औपाधिक हैं, मेरे नहीं हैं। ऐसे परिणामोंकी दृढताका नाम त्याग है। और यही त्याग मेरा पुष्ट हो सके, परभावोंको अपना न मान सकनेके लिए आश्रयभुत बाह्यपदार्थोंका त्याग किया जाता है, ऐसे त्यागकाभाव करने वाला यह ज्ञानी अपने आत्मामें अपने गुणोंसे भरपूर, परिपूर्ण है, अपनेमें स्वतन्त्र है, अपने आपका स्वामी है और ये बाह्यपदार्थ अपने-अपने अनुकूल परिणमते हुए सब अपने अपनेमें स्वतन्त्र हैं। किसी पदार्थ का कोई दूसरा पदार्थ क्या लगे ? कुछ भी तो नहीं है। लेकिन अज्ञानीजन व्यवहारकी बातोंको परमार्थकी बात मान लेते हैं किन्तु ज्ञानी जीव व्यवहारकी बातोंको व्यवहारदृष्टिसे यथार्थ मानते हैं। किसी मूल आधारसे आगे स्वच्छंद बढनेमें तो विडम्बना है।

त्यागके प्रयोजनसे चिगनेमें विडम्बना— एक श्रावक था, सो उसको रातको कोई चीज खानेका त्याग था। केवल दूध रखा था सो रातको दूध रोज पीते थे। तो स्त्रीने दूध जरा ज्यादा गाढ़ा करना शुरू कर दिया। थोड़ा गाढ़ा पीने लगे तो स्त्रीने और गाढ़ा कर दिया। अरे हमारे तो इस चीजका त्याग है। केवल थोड़ा दूध रखा है। अरे तो दूध ही तो है, थोड़ा गाढ़ा हो गया। इसमें दोष नहीं है। फिर रबड़ी बन गयी तो कहा कि चीज तो वही है, जरा और गाढ़ा हो गया। यों चलते चलते खोवा भी

बन गया। कोई दूसरी चीज हो तो मत खावो। अरे दूध ही तो जरासा गाढ़ा हो गया।

त्यागमर्मसे अपरिचित पुरुषोंकी विडम्बनाओंके कुछ नमूने—भैया! त्यागका मतलब तो विकल्प न करना था। अब त्याग करते हैं और उसमें कोई मार्ग ढूँढते हैं। आज नमकका त्यागी है तो आज हलुवा बनना चाहिए। अरे त्यागका तो मतलब था कि विकल्प न उत्पन्न हो और हम अपने आत्माके अनुभवने के लिए मौका पायें। अनुभवनेका मौका बनाना तो लक्ष्यमें रहा नहीं, यहा तो त्यागका निभाना ही लक्ष्यमें है। नमकका त्याग किया तो नमक न आ पावे। आज हमारे दालका त्याग है तो देखो दालकी कलछुली सागमें न लग जाय। अरे अगर सूखी दालकी कलछुली सागमें आ गयी तो घबड़ाते क्यों हो और क्रोध क्यों करते हो? प्रयोजन तो उस वस्तुके रसको न ग्रहण करनेका था। तो कितनी ही ऐसी विडम्बनाएँ हो जाती हैं कि जिसके पीछे अब रसोईघरमें ५ कलछुली और खरीदें क्योंकि घरमें एक त्यागी जी हो गए हैं। अरे भैया! कलछुलीको बचावो तो अभक्ष्यसे बचावो। भक्ष्य चीजमें जिस चीजका त्याग किया जाता है उसका रहस्य है कि इस पदार्थका रस न मुझे आए। रसका स्वाद लेनेका मेरा त्याग है। प्रयोजन का ठीक-ठीक पता नहीं है। थोड़ा विवेक तो रखना चाहिए। कलछुलीके प्रयोग अलग अलग हों यह इसलिए तो ठीक है कि फिर रसत्यागका भाव ही मिट जायेगा, पर कदाचित् किसी समय कोई कलछुली लग भी जाय तो यह ऐसे दोष वाली बात नहीं है कि जिसके पीछे क्रोध नामका महादोष पैदा कर लिया जाय।

त्यागका प्रयोजन और फल—भैया! जिसका परवस्तुके त्याग करनेमें त्यागमात्रकी ही दृष्टि है, त्यागके प्रयोजन की दृष्टि नहीं है उन्हें त्यागका फल मिल नहीं पाता। त्यागका फल है शान्ति। त्यागका फल है ससारसे पार होना। त्यागका फल है संकटोंसे बचना। घरमें कोई चीज आए और चार बच्चोंमें से एक बच्चे को दे दी, तीन बच्चोंको न दी। होते होंगे कोई ऐसे पक्षपाती लोग, सो बाकी ३ लड़के मौका पाकर उसकी मूठी खोलने लगे, कोई हाथ झकझोरने लगे। अब सकट आया। अब उस बच्चेको संकटसे बचनेका उपाय यह है कि चीजको त्याग दे। फिर काहे कोई थप्पड़ मारे, काहे कोई हाथ झकझोरे? त्याग करे तो बच्चा संकटोंमें न आए। लोकमें कितनी ही बातें ऐसी हैं कि संकटोंसे बचनेका उपाय वहां त्याग नजर आता है और जहां संकट हो इसी का नामका है कि पर-

वस्तुको अपना मानना, अपनाना तो वहा त्याग बिना गुजारा ही नहीं हो सकता, परको उपयोगमें ग्रहण किए हुए है, उसका बोझ लदा है, चिंता बन गयी है, उसके संकट त्यागसे ही मिट सकते हैं।

त्यागका अभिरूप— भैया! त्याग अंतरगमें करना है, बाहरके त्यागका प्रयोजन भी अन्तरङ्गमें विभावोंका त्याग है। इस कारण इन दोनोंका मेल रखते हुए, द्रव्यानुयोग सम्बन्धी त्याग और चरणानुयोग सम्बन्धी त्याग दोनोंका मेल रखकर जो त्यागवृत्ति आती है वह कार्यकर होती है। त्याग नाम ज्ञानका है। परमार्थसे व्याख्या की जा रही है, अमुक परपदार्थ मेरा है ऐसा विकल्प करनेका नाम तो असयम है और कोई पर मेरा नहीं है, मैं तो यह ज्ञानमात्र हू, इस प्रकारके असली ज्ञान का नाम सयम है।

त्यागमें अन्त स्वरूपका एक दृष्टान्त— जैसे आपने और आपके पड़ौसीने अपनी अपनी एक-एक चादर एक ही धोबीके यहा धुलनेको दे दी। दो दिन बाद आप धोबीके यहा चले गए और चादर ले आए और उस चादरको तानकर आप सो गए। दो चार घंटेके बादमें पड़ोसी गया अपनी चादर लेने। दे दी चादर धोबी ने, पर वह उस चादरको देखकर कहता है कि यह मेरी चादर नहीं है। इसमें मेरे चिन्ह नहीं नजर आते हैं। धोबी बोला—अहो वह चादर तो बदल गयी है। तुम्हारे पड़ोसमें अमुक रहता है ना, उसके यहां पहुंच गयी है। सो वह उस चादरको न लेकर खाली हाथ चला आया और जो चादर ताने सो रहा था उसे जगाया। चादरका खूँट खींचा। जगने पर कहा कि भाई यह चादर मेरी है, तुम्हारी नहीं है, बदल गयी है। तब वह अपनी चादरके निशान देखने लगा। उसकी चादरमें जो निशान थे देखा कि उसमें नहीं हैं। इतना ज्ञान होते ही उसके चित्तमें समा गया कि यह मेरी चादर नहीं है। तो ज्ञानमें त्याग आ गया कि नहीं? आ गया, पर अभी उतार कर देनेमें थोड़ा विलम्ब लगेगा। अन्तरमें उसके विशुद्ध त्याग हो गया।

दृष्टान्तमें ज्ञानीका त्यागविषयक अन्त निर्णय— कदाचित् कुछ लोभवश वह कहेगा कि मेरी चादर मिले तब दूगा। जैसे कितने ही ईमानदार लोग अपने जूते उतार कर सभामें प्रवचन सुनने आते हैं ना और उनके जूता कोई दूसरा ले जाय और दूसरेके जूता खाली मिल जायें तो वह अपनी गणित लगा लेता है। किसी ने चोरी की, वह हमारे लिए ये छोड़ गया है। तो उसको पहिन कर चला आता है। यह ईमानदारी नहीं है। ईमानदारी तो यह है कि रोनी सी सूरत लेकर घर भाग आये

कि हमारे जूती खो गए हैं। तो कदाचित् वह थोड़ा इस लोभकी वजहसे कि हमें मिलेगा चादर दूसरी तो यह देगे, वह इतना भी कह देता हैं कि बतलायो हमारी चादर कहा है ? ऐसा भी चाहे कहे, पर अतरङ्गमें उसके यह ज्ञान जग गया है कि यह चादर मेरी नहीं हैं। इस भीतरके आशयको कौन बदल सकेगा और फिर कितना ही वह लडे, आखिर देना ही तो है यह निर्णय उसके बराबर है। दूसरा पुरुष जब उसकी चादर लेता है और वह देख लेता है तो वह तुरन्त उस चादर का त्याग कर देता है। त्याग तो उसने तभी कर दिया था जब ज्ञान जगा था कि यह मेरी चादर नहीं है।

त्यागका स्वरूप और उपाय सम्यग्ज्ञान-- इसी प्रकार ये परवस्तु मेरी कुछ नहीं हैं, ये अपने स्वरूपसे प्रवर्त रहे हैं, मैं अपने स्वरूपमें रह रहा हूं, ये बाह्य पदार्थ मेरे कुछ नहीं हैं और इन बाह्य पदार्थोंका लक्ष्य करके जो मेरेमें भाव बन रहा है यह भाव भी मेरा नहीं है। इस प्रकारका ज्ञान जग जाना सो वास्तवमें त्याग है और उस ज्ञानकी स्थिरता रह सके उसीका उपाय बाह्य वस्तुओंको हटा देना है और अपने आपको सविक्त बना लेता है। कोई करे तो, यही उसके सही त्यागकी दिशा है, इस त्याग के फलमें इस आत्माको मिलता क्या है ? अपने आपमें अनाकुलता।

भैया ! त्यागसे ही ससार पार किया जा सकता है, ऐसा ही व्याख्यान एक साधुका हो रहा था। बडे-बडे सेठ सुनने आते थे। एक दिन वह साधु दूसरे गांवको जाने लगा तो रास्तेमें एक नदी पड़ी। जैसे मान लो चम्बल नदी पड़ी क्योंकि यहांसे पूरबको जाना हो तो चम्बल ही पडेगी। तो नाविकसे कहा कि हमें नदी पार करा दो। तो नाविकने कहा कि दो आने पैसे देने पडेंगे। साधु बोला कि पैसे नहीं हैं। तो नाविक बोला कि ऐसे नहीं पार किया जायेगा। साधु ने सोचा कि अच्छा उस पार न सही इसी पार सही। वह उसी किनारे बैठा रहा। कुछ देर बाद एक सेठ जी आए। सेठ जी ने पूछा कि महाराज आपको कहां जाना है ? तो साधु बोले कि हमें तो नदीके उस पार जाना है। तो सेठने दो आने अपने और दो आने साधुके देकर नदी पार किया। पार होकर सेठ साधु से पूछता है कि महाराज आप तो यह कह रहे थे कि त्यागसे इस ससार-समुद्रको पारकर लिया जाता है पर महाराज आप तो यह छोटीसी नदी भी नहीं पार कर सके। तो साधु बोला कि देखो यह नदी त्यागसे ही पार हुए हैं। तुम्हारी चवन्नी यदि अटीमे ही दबी रहती उसका त्याग नहीं करते तो नदी कैसे पार कर सकते थे ? यह नदी त्यागसे ही पार की गयी और

संसारसमुद्र समस्त वस्तुवोंके त्याग करनेसे ही पार किया जा सकता है।

निजग्रहण अपरनाम परपरिहार— त्याग नाम है परसे विविक्त ज्ञानमात्र आत्माकी ओर रहनेका। बाहरी चीजोंका कौन त्याग कर सकेगा ? जैसे हरीका त्याग करते हैं ना। जब नाम लेकर हरीका त्याग करें तो कहां तक लाखों हरियोंका त्याग किया जाय। तो १०—५ हरीका नाम लिखकर शेष सबका त्याग कहा जाता है, संसारमें अनन्त पदार्थ हैं, उन सबसे मैं न्यारा ज्ञानमात्र हू, ऐसे परिणामका नाम परमार्थसे त्याग है और यह त्यागी इस त्यागीका ही है, परद्रव्यका त्यागी नहीं है।

जिस प्रकार यह आत्मा परद्रव्यका ज्ञायक नहीं है, परद्रव्यका दर्शक नहीं है, परद्रव्योंका त्यागी नहीं है इसी प्रकार यह आत्मा परद्रव्योंका श्रद्धानकर्ता भी नहीं है। इस बातका वर्णन अब इस गाथामें करते हैं।

जह परदव्व सेडिदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं सद्दहइ सम्मदिट्ठी सहावेण ॥३६४॥

श्रद्धाता व श्रद्धेय परपदार्थविषयक व्यवहार कथन— जैसे सेटिका अपने स्वभावसे परद्रव्यको श्वेत करती है इस ही प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव अपने भावोंसे परद्रव्योंका श्रद्धान करता है। यह व्यवहारनयका कथन है। तत्त्वार्थका श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है। उसमें श्रद्धेयरूप जीवादिक बाह्य पदार्थ हैं उनका निश्चयसे श्रद्धान करना नहीं होता है अर्थात् श्रद्धेय परद्रव्यमें यह तन्मय नहीं होता। तो फिर क्या रहता है ? सम्यग्दर्शन, सम्यग्दर्शन रूप ही अपने स्वरूपमें ठहरता है। जैसे श्वेतगुणकर भरपूर यह खड़िया अपने स्वभावसे परिणम रही है, भींतादिक परद्रव्योंके स्वभावसे नहीं परिणमती। खूब देख लो।

उपदृष्टान्तपूर्वक व्यवहारसम्बन्धक दृष्टान्तका विवरण— एक अपने कपड़ोंको ही देखलो। कोई मनुष्य एकदम लाल कपड़े पहिने है ऊपरसे नीचे तक। तो लाल कपड़ोंने आदमीको लाल कर दिया क्या ? लाल कपड़ा अपने स्वभावसे परिणम रहा है आदमीके स्वभावसे नहीं परिणम रहा है। आदमी अपने ही रूप परिणम रहा है, कपड़ा अपने ही रूप परिणम रहा है, कपड़ा अपने ही रूप परिणम रहा है। मगर जिस तरहसे कमीज या ओढ़नी ओढ़ी जाती है। आदमी न हो तो भला उसे आकाशमें उस ढगसे उढ़ा दो। कोई आधारभूत परद्रव्य न हो तो यह कपड़ा कमीज इस तरहसे तो नहीं फैल सकता, जैसा आदमीके पहिनने में फैला है। तो इतना निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध तो है इस कपड़ेके इस आकारमें फैलनेका, पर आदमीने कपड़ेमें कुछ नहीं किया, कपड़े ने

आदमीमें कुछ नहीं किया, यह बात तो जरा जल्दी समझमें आती है। ऐसी ही बात बिलकुल इस कलई और भींतकी है। मनुष्यके मानिन्द यह भींत बिलकुल स्वतंत्र अपने रूप है और वस्त्रके मानिन्द यह कलई अपने रूपमें बिलकुल स्वतंत्र है, एक दूसरे रूप नहीं परिणमती है, फिर भी परस्परमें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, इस कारण व्यवहारमें यों कहा जाता है कि कलई ने भींतको सफेद कर दिया।

श्रद्धाता व श्रद्धेयका सम्बन्ध व्यवहार— इसी तरह श्रद्धा नामक शक्ति जो कि परद्रव्य जैसा है उस रूपसे परिणमें, श्रद्धा करे ऐसी वृत्ति रखता है। उस श्रद्धारूपसे परिणमते हुए जीवका इन परद्रव्योंसे सम्बन्ध नही है, परद्रव्यका स्वामी वह पर ही है, हम परद्रव्यके कर्ता नहीं हैं। और वे परद्रव्य इसका श्रद्धान बनाते नहीं हैं, किन्तु परस्परमें एक ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि यह श्रद्धाता अपने रूपसे परिणम रहा है। उसमें विषयभूत बाह्य पदार्थ होते हैं।

श्रद्धान और श्रद्धानके विषयकी अनिवार्यता-- भैया! जीव कहीं न कहीं श्रद्धान तो बनाता ही है। कोई भी जीव हो, मिथ्यादृष्टि हो, सम्यग्दृष्टि हो, किसी न किसी जगह उसका श्रद्धान अटका है। अज्ञानियोंका कुटुम्ब और वैभवमें श्रद्धान अटका है, सम्यग्दृष्टि जीवका अपने स्वभावमें श्रद्धान अटका है। श्रद्धान कहते हैं उसे कि जिसके प्रतापसे जिसमें रुचि जगे। यद्यपि रुचि ही श्रद्धान नहीं है किन्तु श्रद्धानका फल रुचि है। जिस का जहां श्रद्धान होगा वैसी उसकी रुचि होगी। तो जिसको वैभव और कुटुम्बमें रुचि है उसके श्रद्धान कहा कहा जायेगा ? वैभव और कुटुम्बमें। और जिसको निज सहज स्वभावके देखने की ही रुचि रहती है उसका श्रद्धान कहां कहा जायेगा ? अपने आपके सहज स्वभावमें।

श्रद्धान और रुचिकी अनुरूपता-- भैया! जैसी श्रद्धा होती है वैसी रुचि जगती है और उस ओर की ही प्रवृत्ति होती है। श्रद्धानपूर्वक किया हुआ कार्य फलवान होता है। यद्यपि प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक जीव जो भी कार्य करता है वह श्रद्धानपूर्वक ही तो कर पाता है। पर यथार्थ श्रद्धापूर्वक जो कार्य होता है वह यथार्थ प्रयोजनको सिद्ध करता है। लोकमें भी कोई नियम श्रद्धापूर्वक लिया जाय तो उस नियमका भी फल उत्तम होता है लोक दृष्टिमें। फिर धार्मिक कर्तव्यके नियम यदि श्रद्धापूर्वक हों तो भी उत्तमफल देने वाला होता है। अब श्रद्धा तो मनमें बनी है कुटुम्ब वैभवकी और प्रवृत्ति रखते हैं पूजा पाठकी तो यह बेमेल काम हुआ कि नहीं ? मेल कहां खाया और जब मेल नहीं खाता तो शांति भी वहां नहीं मिलती।

और धनका मिलना कोई पूजाके आधीन बात है नहीं। वह तो पूर्वकृत पुण्यके अनुसार आता है। तो जब ऐसे लोगोंको न तो धन वैभव मिलता है और न शांति मिलती है बल्कि विषाद झगड़े कुबुद्धि ये अवगुण सताते हैं तो दर्शक लोगोंकी श्रद्धा धर्मसे हटने लगती है। ये तो बने हैं बड़े धर्मात्मा। इनकी तो दशा देखो। जो पुरुष मायाचार सहित धर्मकी बातें रखता है तो वह केवल अपनी ही दुर्दशा नहीं बनाता, किन्तु अनेक लोगों की दुर्गति बनानेमें निमित्त होता है।

निर्माय हृदय ही धर्मका अधिकारी— धर्मपालन मायाचारमे नहीं होता। ब्रह्मगुलाल मुनिकी बात सुनी होगी। वे बहुत-बहुत भेष बनाया करते थे। सो उससे राजा प्रसन्न रहे। किसी मंत्रीको यह बात खटकी तो राजा से कहा कि महाराज इससे कहो कि कल सिंहका भेष बनाकर सभामें आए। राजाने कहा कि कल आप शेरका स्वांग बनाकर सभामें आना। तो कहा कि महाराज शेरका स्वांग बड़ा कठिन होता है। कहीं एक आध खून हो जाय तो माफ करना होगा तब स्वांग बनाया जा सकता है। अच्छा भाई माफ। जब शेरका स्वांग बनाकर आया तो परिणाम भी उस ही रूप बनाना पड़ता है तब तो स्वांगकी बात आती है। तो जब वहांसे निकला सिंह, वही ब्रह्मगुलाल, तो राजाके लड़केने कुछ तुच्छ बात कह दी कि यह आया है गीदड़। तो उसके रोष आया और अपना पंजा उस राजपुत्रके मार दिया। राजपुत्र मर गया, पर राजा तो वचनबद्ध था। कहे क्या? तो मंत्रियों ने राजाको यह सलाह दी कि आप इससे यह कहो कि मुनिका भेष बनाकर सभामें आए। राजा ने ब्रह्मगुलालसे कहा कि आप मुनिका भेष बनाकर सभामें आयें। तो वह बोला कि महाराज इस भेषको बनानेमें ६ महीने सीखना होगा। साधुपद ऐसा नहीं है कि आया मनमें तो हो गए नंगे। यों साधुता नहीं होती है तो इसके लिए तो हमें ६ मास तक अभ्यास करना होगा। राजाने कहा अच्छा ६ महीने सही। उन ६ महीनोंमें ब्रह्मगुलाल रात दिन स्वाध्याय, ध्यान, आत्मभावनामें रहा आया। अंतमें जब वैराग्य हुआ तब मुनिका भेष बनाकर पिछी कमण्डल लेकर सभाके सामनेसे निकल गया। राजाने बहुत बुलाया, पर ब्रह्मगुलाल ने कहा कि बस मुनि भेषमें यही होता है।

श्रद्धान सहित नियमका निर्वाह— भैया! किसीसे प्रेम नहीं करे, किसी वस्तुमें मोह नहीं करे, किन्हीं भी पदार्थोंका परिग्रह न करे, किसी की बात न सुने, अपने ज्ञान ध्यान तपमें लीन रहे यह है साधुकी चर्या। साधु तो भगवानकी मुद्रामें है ना। जैसे प्रभु रागद्वेषसे परे हैं तो यह भी

पदवीके अनुसार रागद्वेषसे परे होगा तो बस निकल गए सभाके सामनेसे। श्रद्धापूर्वक जो नियम होता है उस नियममें बाधा नहीं आती है। अब श्रद्धान तो है और तरहका, रुचि तो है और प्रकारकी और धर्मका रूपक रखे हैं तो उसका मेल नहीं खाता है। जो भी नियम ले उस नियमकी सच्चाईसे श्रद्धा है तो वह नियम अवश्य फलेगा और उसका फल उत्तम मिलेगा।

श्रद्धानसहित नियमका परिणाम— एक सेठ थे तो उससे साधु ने कहा कि तुम कोई नियम ले लो। तो वह बोला कि महाराज हमसे नियमका पालना कठिन है सो महाराज नियम तो मुश्किल है साधु ने कहा कि देवदर्शन रोज कर लिया करो। सेठ बोला—महाराज मंदिर तो एक फर्लांग दूर है। तो तुम्हारे घरके सामने क्या है? सेठने कहा कि कुम्हारका घर है। उसके यहां क्या है जो तुम्हें शीघ्र दिख जाय। सेठने कहा कि पड़ा बँधा रहता है, भैंसा उसकी चांद रोज दिख जाती हैं। साधु ने कहा कि अच्छा उसीकी चांदको देखकर खाना खानेका नियम लो। कहा कि अच्छा महाराज यह तो कर लेंगे। अब एक दिन कुम्हार अपने पड़ाको लेकर जल्दी खानमें चला गया तो वहा खान खोदते हुएमें एक अशर्फियोंका हडा उसे मिला। यहा क्या हुआ कि जब सेठको उसके घरमें पड़ा न मिला तो सीधे वह उसकी खानमे पहुचा। भैंसेका चांद देख लिया। जब सेठ खानसे कोई २५—३० हाथ दूर था तो कुम्हारने खडे होकर देखा कि हडा पाया है तो कोई देख तो नहीं रहा है। देखा कि सेठ जी खडे हैं। लो सेठ जी से कुम्हारने कहा कि सेठ जी सुनो। तो सेठ जी ने कहा कि बस-बस देख लिया। अरे सुनो तो बस-बस देख लिया। वह तो यह कह रहा था कि हमने भैंसेके चादको देख लिया क्योंकि हमें दर्शन इसके करना था, भूख लगी है, अब जाकर खाना खायेंगे। कुम्हारने कहा—अरे सुनो तो। कहा—बस देख लिया। क्या देख लिया सुनो तो सही। बस सब देख लिया। जो देखना था सो देख लिया तो सेठ अपने घर पहुचा।

अब कुम्हार सोचता है कि सेठने देख लिया है, यदि वह राजासे कह देगा तो सारी अशर्फियां छिन जायेगी। सो वह सेठके यहां सारी अशर्फिया लेकर पहुचा। सेठसे कहा कि देखो किसीसे कहनेकी बात नहीं है, इतनी अशर्फिया मिली हैं, आधी आप ले लो और आधी हम ले लें। कुम्हार आधी अशर्फिया देकर चला गया। अब सेठ सोचता है कि जब एक अटपट नियम पालने पर इतनी अशर्फिया मिलीं तो साधु महाराज जो कहते थे वह ठीक ही कहते थे कि प्रभुके दर्शन करने का रोजका नियम

रखो तो कोई अलौकिक बात मिलती है। सो भाई यदि कोई श्रद्धा सहित प्रभु दर्शनका नियम रखता है तो उसे अलौकिक निधि ही मिलती है, इसमें कोई सदेह नहीं है।

आत्मवैभवकी श्रद्धामें हित-- अलौकिक निधिकी तुलना इस लोककी निधिसे नहीं हो सकती। यह लोककी निधि, धन वैभव इस जीवके शातिका कारण नहीं है। पापका उदय आता है तो लौकिक वैभवकी तुलना मनमें आती है। तृष्णा करना पाप है या पुण्य? पाप भाव है। पाप भावसे की हुई प्रवृत्तिसे शाति आए यह कैसे हो सकता है? यदि वास्तविक मायनेमें इस ज्ञानानन्द निधान अमूर्त सबसे निराले इस ज्ञाता आत्माकी श्रद्धा हो तो वहा से शातिका उदय होगा। अशातिका वहा काम नहीं है। अशाति होती है परद्रव्योंमें हितकी श्रद्धा रखने वालोको। क्यों कि परमें तो हित माना और परका परिणमन अपने आधीन नहीं तब देख-देखकर दुःखी ही तो होना पडेगा। मोक्षमार्गमें यथार्थ श्रद्धानका सर्व प्रथम स्थान है। शुरु बात होती है मोक्ष मार्गमे चलनेकी तो इस यथार्थ श्रद्धानसे होती है।

पर्यायबुद्धिका महान् अपराध— भैया! क्या चाहिए? मुक्ति। मुक्ति किसको चाहिए? इस आत्माको। जिस आत्माको मुक्ति चाहिए उस आत्माको ही न पहिचाने कि यह परमार्थसे किस रूप है, तो मुक्ति कहांसे होगी? बैल, घोड़ा, कुत्ता मेंढक चूहा व हाथियोंको सम्यग्दर्शन हो जाय जिसने न सस्कृत सीखा, न प्राकृत सीखा, न व्याख्यान देना सीखा, न चर्चा करना जाना ऐसे मेंढक बदर नेवला साप आदिको सम्यक्त्व जग जाय और यहा बड़ा ज्ञान सीखते हैं, बड़ा यत्न करते हैं और फिर भी सम्यक्त्व न जगे तो इसमें कोई अपराध तो ढूंढना चाहिए। अपराध है परद्रव्यकी तीव्र रुचि। जो पढ़ता है उसको अपने प्रयोजनमें ढालता है। शुद्ध सत्य प्रयोजन उसके नहीं रहता है। तब जो विद्याएँ पढ़ीं वे मानके लिए पढ़ीं। विषादके लिए पढ़ीं, हितके लिए नहीं पढीं हैं। उन सज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों ने जिसने कि सम्यक्त्व पाया है उनका मान विषाद हठ ये कुछ नहीं होते। वे अपने स्वरूपकी श्रद्धा कर लेते हैं और ये मनुष्य हम आप नहीं कर पाते। न कर सकें तो यह एक विषादकी बात है।

तृष्णा क्लेशकी जननी— आत्महितकी तो बात दूर ही है। रात दिन चित्तमें यह बात रखे रहते हैं कि हाय हम दुःखी हैं, हम दरिद्री हैं, हमारे पास थोड़ा वैभव है। अरे उन सज्ञी तिर्यञ्चोंसे आप हम कितने अच्छे हैं, उन कीडे मकौड़ोंसे हम आप कितने अच्छे हैं? जो वर्तमानमें

अच्छादन पाया उसका संतोष नहीं किया जाता। तृष्णामें यह हाल होता है कि जो मिला है उसका आनन्द भी नहीं पाया जा सकता है।

श्रद्धाका विस्तार— यह जीव श्रद्धान करना किसका है? व्यवहार में तो परद्रव्योंका श्रद्धान करता है और परमार्थसे अपने स्वरूप रूपका श्रद्धान करता है। अपने ही परिणमनका श्रद्धान करता है। इस ही श्रद्धान गुणके परिणमनसे परिणमता है। सो इस जीवका श्रद्धेय जीवादिक पर-पदार्थोंके साथ सम्बन्ध ही नहीं है। श्रद्धान इनका करता हो इतने मात्रका भी स्वामित्व परमार्थसे नहीं है। फिर मै वैभवका स्वामी हू, इतने परिजन का स्वामी हू, यह बात तो आयेगी कहासे?

आत्मपरमार्थता— यह प्रकरण चल रहा है जोड़ और तोड़ दोनों व्यवहारोंसे रहित परमार्थ स्वरूपका। आत्मामें रागद्वेष कुटुम्ब वैभव जोड़ना यह तो है जोड़का व्यवहार व आत्मामें ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है इस तरहके भेद करना यह तोड़रूप व्यवहार है। आत्मा जोड़से और तोड़से रहित अपने स्वरूप मात्र अखण्ड वस्तु है। इस आत्म पदार्थकी जो श्रद्धा करते हैं उनकी अलौकिकी वृत्ति हो जाती है। लोग गाली दें तिस पर भी बुरा न माने तो सुनने वाले, देखने वाले उसको कहते हैं कि यह कैसा पागल हो गया है? कुछ अपनी बात ही नहीं समझता है तो ज्ञानी जीवकी वृत्ति अलौकिकी होती है। लोग जैसा करें उससे उलटा काम है इसका। लोग सचय करते हैं और यह त्याग पर उतारू है। कितना उलटा काम है इसका?

ज्ञानी व अज्ञानीकी वृत्तिया— भैया! कृपण पुरुष तो दूसरोंको दान देना हुआ देखकर दूसरोंको बुद्धिहीन समझता है और सोचता है कि इसके दिमागमें कुछ फितूर होगा। एक बार एक कृपणने किसी सेठको वस्त्र, भोजन आदि बाटते हुए देख लिया। बस, देखते ही उसका चित्त दुखी हो गया, हाय कैसा धन बाटा जा रहा है? उसके सिर दर्द हो गया चेहरा मलिन हो गया। मलिन चेहरा लेकर घर आया तो घर वाली भी उसके अनुरूप थी, जैसा कि वह सेठ कृपणताकी वृत्ति वाला था। पूछती है—'नारी पूछे सूमसे काहे बदन मलीन। क्या तेरो कुछ गिर गया या काहू को दीन ॥' वह जानती थी कि किसीको कुछ दे दिया होगा आज या कुछ गिर गया होगा सो दुःखी है। उसे अभी रहस्यका पता नहीं है। तो सूम कहता है—"ना मेरा कुछ गिर गया ना काहूको दीन। देतन देखा औरको तासो बदन मलीन ॥" ज्ञानी और अज्ञानीका जोड़ कैसे मिला-वोगे? जिसको जैसी श्रद्धा होती है उसके अनुसार उसकी वृत्ति होती है।

परमार्थ श्रद्धान— भैया! हमें प्रवृत्ति चाहिए शांतिकी। शांति किस प्रकार मिले, इसका उपाय है वस्तु की स्वतन्त्रताका श्रद्धान रखना। बाहरमें कोई कैसे कुछ परिणमें यह उनकी वृत्ति है, उससे मेरेमे कुछ सुधार अथवा बिगाड नहीं है। ऐसा जानकर अपने आपकी ओर उन्मुखता रहे तो वहा शांति उत्पन्न होती है, ऐसी सही श्रद्धा करने वाला ज्ञानी पुरुष भी श्रद्धेय परपदार्थोंका कुछ नहीं है। व्यवहार ही परका श्रद्धान करने वाला है ऐसा कहकर निश्चयकी बातका संकेत करता है। जीवादिक तत्त्वार्थोंका श्रद्धान करने वाला जीव है इस प्रकार व्यवहारसे कहा जाता है।

अन्य गुणोंके सम्बन्धकी प्ररूपणा— यह जीव ज्ञायक है, दर्शक है, अपोहक है, श्रद्धाता है। क्या परवस्तुका इस आत्मासे इस रूपमें भी सम्बन्ध है? इसके उत्तरमें निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों पद्धतियोंसे वर्णन करते हैं, तो इस ही तरह आत्माके अन्य गुणोंके परिणमनके साथ ही परवस्तुका क्या सम्बन्ध है या नहीं है, इसमें भी निश्चय और व्यवहार के तरीकेसे सम्बन्ध जानना चाहिए, इस सम्बन्धमें आचार्यदेव इस गाथामें कह रहे हैं।

एव ववहारस्स दु विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते।
भणिओ अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णायव्वो॥३६५॥

अन्य गुणोंकी वृत्तियोंका परसे सम्बन्धविषयक व्यवहारविनिश्चय— जिस प्रकार ज्ञान दर्शन चारित्र और सम्यक्त्वके सम्बन्धमें आत्माका पर द्रव्यके साथ सम्बन्ध होनेकी बात निश्चय और व्यवहारसे बताई है इस ही प्रकार अन्य गुणों और पर्यायोंमें भी समझ लेना चाहिए। जैसे एक आनन्दनामक गुण है, पहिले आनन्द गुणकी वृत्तिको जान लें, आनन्दगुण आत्मामें त्रैकालिक गुण है और उसके परिणमन ३ प्रकारके हैं। दुःख सुख और आनन्द। दुःख कहते हैं उसे जो इन्द्रियोंको न सुहावना लगे। सुख कहते हैं उसे जो इन्द्रियोंको सुहावना लगे और आनन्द कहते हैं उसे जो आत्माकी शक्ति समृद्धिका अनुभव होनेके कारण अनाकुलतारूप परिणमन हो। इसमें सुख और दुःख विकार परिणमन हैं और आनन्द स्वभाव परिणमन है। आनन्द गुणका भी नाम है और उसकी स्वाभाविक पर्याय का भी नाम है।

आनन्दगुण की वृत्तिका परसे असम्बन्ध— इस आनन्द गुणका सुख दुःख रूप विकार अवस्थामें परमार्थसे क्या परवस्तुके साथ कुछ सम्बन्ध है? नहीं। आनन्दगुणकी स्वभाव अवस्थामें परवस्तुके साथ सम्बन्ध नहीं है, यह बात जल्दी ध्यानमें आ जाती है। ठीक है, किन्तु

विकार दशामें भी परसे सम्बन्ध नहीं है, सिद्ध भगवान अनन्त आनन्दमे मग्न है, तो क्या किसी परवस्तुके लक्ष्यके कारण या विषयके कारण वह आनन्दमग्न है ? नहीं। उनके आनन्दगुणका परिणमन उनके द्रव्यत्व गुण के कारण हो रहा है। सुख और दु:खकी दशामे कुछ संदेह हो जाता है कि आत्मा परवस्तुसे ही सुख लेता है और परवस्तुसे ही दु:ख लेता है। इस लोकमें भी कहते हैं कि अमुक लड़केने नाकमें दम कर डाला। नाकमें दम विपत्तिको कहते हैं। जैसे नाकके छेदमें कोई चीज अड़ जाय तो दम घुटने लगता है ऐसा लोकमें भी कहते हैं। और सुखके बारेमें भी कहते हैं कि हमारी बहुये तो ऐसी भली आयी हैं कि हमें कोई तकलीफ नहीं है। बेचारी बड़ी सेवा करती हैं, उनसे हमें बड़ा सुख है। ऐसा व्यवहारमे भी कहते हैं ना। तो सुख और दु:ख परवस्तुसे आते हैं। परसे ही सुख है परसे ही दु:ख है, यह बात व्यवहारमें समझमें आ रही है, परन्तु निश्चय-नय यह बताता है कि सुखरूपसे परिणमने वाला यह आत्मा अपने आनन्द गुणके परिणमनसे सुखी होता है।

आनन्द परिणतियोंका मात्र व्यवहारसे सम्बन्धदर्शन— यह आत्मा अपने आनन्दस्वभावसे परिणमता, परवस्तुके स्वभावसे नहीं परिणमता और परविषय अपने स्वभावसे इस आत्माको नहीं परिणमाता किन्तु अपनी परिणतिसे परिणमते हुए दोनोंके प्रसंगमें यह संसारी जीव पर-विषयक लक्ष्यमें लेकर उसका निमित्त पाकर अपने सुखसे परिणमते हुए में परसे सुखी होता है, यह अमुक विषयका सुख है ऐसा व्यवहारमें कहते हैं। परमार्थसे इस आत्माका सुखादिकके आश्रयभूत विषयोंसे भी सम्बन्ध नहीं है। विषय बहुत दूर पड़े हैं, यह बहुत दूर बैठे-बैठे सुखरूप परिणम रहा है।

आनन्द और विषयकी भिन्नताके उदाहरण— जैसे देखनेका जो विषय है सुहावना रूप है, सनीमाके चित्रादिक हैं वे तो बहुत दूर बने हुए हैं, यह इतनी दूर बैठा हुआ अपने आपमें उस रूपका विषय करके सुख रूप परिणम रहा है। आंखोंसे दिखने वाली बाहरकी बात कुछ जल्दी समझमें आ गयी होगी कि हां कुछ भी तो इस रूपसे सम्बन्ध नहीं है। तो जैसे उस चक्षुके विषयभूत रूप पदार्थोंसे इस आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है सुखके प्रसंग में, इसी प्रकार चबा चबाकर खाये हुएमें लड्डू, रबड़ी से इस आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस जीवको लड्डू रबड़ी आदिसे सुख मिलता हो, ऐसी बात नहीं है, यह भी आत्मप्रदेशसे दूर रहने वाली बात है।

एकक्षेत्रावगाही परका भी आनन्दमें अत्यन्ताभाव— कदाचित् परका आत्मप्रदेशमें एकक्षेत्रावगाह भी हो जाय, यह लड्डू किसी तरह खाया, रस बना तो वह रुधिर आदिक रूप परिणम गया। अब शरीरके रुधिर आदिक समस्त अंगोंमें आत्मप्रदेश भरा पड़ा है। एकक्षेत्रावगाह है ऐसा एकक्षेत्रावगाहरूप भी परपरिणति हो तो भी वह आत्मासे बाहर है, स्वरूपमें उसका प्रवेश नहीं है। कहीं स्वास्थ्य अच्छा है ना, खून बढ़ रहा है तो कहीं खून बढ़नेके कारण इस जीवका सुख परिणमन नहीं हुआ वह तो एक आश्रयभूत है, उसका विषय करके यह जीव अपनी परिणतिसे अपनी कलासे अपने आप सुखरूप परिणमता है। इसी प्रकार अन्य शक्तियोंकी भी बात समझिए।

क्रियावती शक्तिकी परिणतिका भी परसे असम्बन्ध— जैसे एक क्रियावती शक्ति है। क्रियावती शक्तिके प्रतापसे यह जीव गति करता है। इस देहसे बँधी हुई हालतमें कोई इस देहको अभी घसीट ले जाय तो देह जो चला, उसमें निमित्त वह घसीटने वाला पुरुष तो है पर यह देह अपनी क्रियासे चला और देहके चलने का निमित्त पाकर जीव भी उसके साथ चला। कहीं जीव यहा रखा नहीं रहा, फिर भी जीवमें गति जीवकी क्रियावती शक्तिके परिणमनसे है। उसमे सयुक्त पुद्गलकी क्रिया निमित्त-भुत है। सो व्यवहारसे निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धके कारण एक पदार्थका दूसरे पदार्थसे सम्बन्ध है, अथवा एक दूसरेको यों करके यों व्यावहारिक सम्बन्ध बताया जाय किन्तु परमार्थसे किसी द्रव्यके परिणमनका किसी अन्य द्रव्यके परिणमनसे तन्मयताका सम्बन्ध नहीं है।

व्यवहारभाषाका मर्मभूत अन्य अर्थ— व्यवहारमें लोग कहते हैं कि यह मैंने भोजन किया, यह मैंने काटा निकाल दिया, यह घर मैंने बनवाया, मैंने गधेका आदमी बनाया। गधेका आदमी बनानाके मायने पढ़ा लिखा देना। यह सब व्यवहार कथन है। एक मास्टर साहब स्कूलमें बच्चोंको पढ़ा रहे थे। सो एक बच्चेको कह रहे थे कि तू बड़ा मूर्ख है, अभी तक तेरी समझमें नहीं आया। मैंने बीसों गधोंको आदमी बनाया। तो एक कुम्हार जा रहा था। उसने सोचा कि हमारे कोई लड़का नहीं है सो एक गधेका क्यों न लड़का बनवा लें। सो मास्टर साहबसे उसने विनती की कि मास्टर साहब हमारे घरमें एक भी लड़का नहीं है, हम अकेले हैं घरमें। एक गधेका लड़का बना दीजिए। मास्टरने सोचा कि अच्छा बेवकूफ आज पल्ले पड़ा। थोड़ा सोच कर बोला कि अच्छा ले आना गधा—देखो ७ वें दिन आना और ठीक २ बजे दोपहरको आना। उसने

गधा लाकर दे दिया २५-३० रु० का बिका तो उससे अपना काम चलाया। अब वह देहाती, ७ वें दिन ठीक ३ बजे आ ही जाय ऐसी घड़ी तो उसके पास थी नहीं, सो बेचारा ३॥ बजे आया। सो कहा महाराज अब हमारा लड़का दे दीजिए। मास्टर कहता है कि ओह तू आध घंटे बाद आया। अरे तेरा गधा तो लड़का बन चुका है, यदि आध घंटे पहिले आ जाता तो तेरा लड़का यहीं मिल जाता। अब तो वह फला कचेहरीमें जज बन गया है, वहां तू जा वह कुर्सी पर बैठा हुआ फैसला करता हुआ मिलेगा। तो वह पछताता है कि यदि मैं आध घटे पहिले आ जाता तो हमारा लडका हमको यहीं मिल जाता, अब कहां जायें, किससे पूछें? सोचा कि कचेहरी चलें। उसी गधेका तोबरा और रस्सी लेकर वह कुम्हार कचेहरी पहुंचा। जिससे कि वह लड़का इसको देख कर यह ख्याल करले कि हम इस कुम्हारके ही लड़के हैं, सो वह कचेहरीके दरवाजे पर बैठ गया। उस गधेके तोबराको दिखाकर वह बोलता है कि ओह ओह आजा मेरे पास, तू हमसे नाराज होकर यहां क्यों चला आया? आधा घंटा ही तो हमको देर हो गयी थी। जजने देखा कि यह कैसा मूर्ख है सो सिपाहियोंसे कहकर धक्के मारकर निकलवा दिया।

व्यवहारभाषाके लक्ष्यकी जानकारीकी आवश्यकता— तो व्यवहार में भी यह कहते हैं कि मैंने गधे को आदमी बना डाला तो क्या उसका सीधा अर्थ यह लेना है कि हा बन जाता है। व्यवहार भाषामें बोलनेका लक्ष्य किस बात पर है? यह ध्यानमें आए बिना व्यवहारकी बात गलत हो जायगी। तो यद्यपि परवस्तुवोंके प्रति व्यवहारमें ऐसा कहा जाता है कि मैंने घर बनाया, मैंने काटा निकाला, मैंने भोजन बनाया, मैंने अमुकको पढाया, लेकिन निश्चयसे देखा जाय तो मैंने तो रागादिक परिणाम ही किया। न मैंने किसीको पढ़ाया, न मैंने भोजन बनाया, न मैंने घर वगैरह बनाया, यह एक मोटीसी बात है। जैसे कोई कहता हो कि मैंने अमुक परद्रव्यको जाना तो उसका अर्थ लगावो कि क्या यह परद्रव्यमें तन्मय होकर जानता है? नहीं। इस कारणसे निश्चयसे परको नहीं जाना।

व्यवहारसे सर्वज्ञताका अर्थ— कोई शका करता है कि यदि भगवान भी परद्रव्यको व्यवहारसे जानता है तो फिर वह भी व्यवहारसे सर्वज्ञ हुए, निश्चयसे तो सर्वज्ञ नहीं रहे। उत्तरमें यह जानना कि भाई उसका अर्थ वह लगाना कि परद्रव्यके सम्बन्धमें जानकारी तो हुई यह बात तो असत्य नहीं है किन्तु परद्रव्यमें तन्मय होकर नहीं जानते, किन्तु वे अपने आपके ज्ञानपरिणमनमें ही तन्मय होकर जानते हैं। जैसे कोई मनुष्य परके

सुख को जानता है, यह बड़ा सुखी है, तो क्या वह दूसरे के सुखमें तन्मय होता हुआ जानता है ? नहीं। दूसरेके सुखके बारेमें जानता है। दूसरेके सुखमें तन्मय होकर नहीं जानता है।

व्यवहारसे सर्वज्ञताका अर्थ— कोई शका करता है कि यदि भगवान भी परद्रव्यको व्यवहारसे जानता है तो फिर वह भी व्यवहारसे सर्वज्ञ हुए निश्चयसे तो सर्वज्ञ नहीं रहे। उत्तरमें यह जानना कि भाई उसका अर्थ यह लगाना कि परद्रव्यके सम्बन्धमें जानकारी तो हुई, यह बात तो असत्य नहीं है किन्तु परद्रव्यमें तन्मय होकर नहीं जानते, किन्तु वे अपने आपके ज्ञानपरिणमनमें ही तन्मय होकर जानते हैं। जैसे कोई मनुष्य परके सुख को जानता है, यह बड़ा सुखी है, तो क्या वह दूसरेके सुखमें तन्मय होता हुआ जानता है ? नहीं। दूसरेके सुखके बारेमें जानता है। दूसरेके सुखमें तन्मय होकर नहीं जानता है।

भैया ! और भी देखो जब अपने बुखार आता है १०२ डिग्री बुखार मानो आया तो आपको बुखारका ज्ञान हुआ। एक तो यह ज्ञान हुआ और दूसरे जब आप स्वस्थ हो गए, अब भाईको बुखार आया तो उसको भी १०२ डिग्री बुखार है। सो थर्मामीटर लगाकर देख रहा है ओह भाईके भी १०२ डिग्री बुखार है। तो एक तो अपने बुखारका ज्ञान था और अब भाईके बुखारका ज्ञान हो रहा है। इन दोनों ज्ञानोंमें कुछ अन्तर है या नहीं ? अन्तर है। अपने बुखारकी वेदना को तो तन्मय होकर जानता था और भाई के बुखारकी वेदना को तन्मय होकर नहीं जानता है। अगर तन्मय होकर जानने लगें तो फिर दोनोंकी दवाई होगी तब बुखार मिटेगा। होता भी है क्या ऐसा ? कोई बीमार हो जाय और उसे कड़वी दवा दे डाक्टर तो वह बीमार पुरुष कहे कि डाक्टर साहब यह दवा तो हमसे नहीं पी जाती है आप पी लो तो क्या ऐसा भी कोई कहता है या उसके कहने से डाक्टर दवा पी लेता है ? परपदार्थका जो सम्वेदन होता है वह व्यवहारका सम्वेदन कहलाता है क्योंकि परमें तन्मय होकर सम्वेदन रूप परिणमन नहीं होता। यदि दूसरेके सुखको अपने सुखकी तरह तन्मय होकर जाने तो जैसे अपने सुखके सम्वेदनमें यह जीव सुखी होता है इसी प्रकार परके सुखके सम्वेदनसे भी सुखी हो जाय और परके दुःखके ज्ञानसे यह दुःखी हो जाय किन्तु ऐसा नहीं है। तो जैसे यह अपने सम्वेदनकी बात तो निश्चयसे है और दूसरेके सुखकी ज्ञानकी बात व्यवहारसे है, इसी तरह सभी आत्मावोंको अपने ज्ञानके परिणमनकी तन्मयताकी बात तो निश्चयसे है और परका ज्ञान होते हुए भी परका ज्ञान व्यवहारसे यों

कहलाता है कि परपदार्थ तन्मय होकर नहीं जानते। यों तो निरंशवादी भी कहते हैं कि ज्ञाननिश्चयसे अपनेको जानता है और व्यवहारसे परको जानता है। यही बात जैन लोग कहते हैं, यही बात बौद्ध भी कहते हैं। किन्तु निरंशवादियोंने यहां व्यवहारका जानना व्यवहारसे भी सत्य नहीं है ऐसा कहते हैं। उसे भ्रम बताते हैं किन्तु यहां ऐसी बात नहीं है कि परपदार्थके बारेमें जानकारी हुई तो वह भ्रम हो गया, भ्रम वाली बात नहीं है। यह व्यवहाररूपसे व्यवहारकी बात सत्य है और निरंशवादमें व्यवहारकी बात सर्वथा झूठ है, केवल भ्रममात्र है। यही अन्तर है। यदि व्यवहारकी जानकारी भ्रममात्र होती तो भगवान व्यवहारसे सर्वज्ञ है इस का अर्थ यह लगाते कि वास्तवमें वे सर्वज्ञ नहीं हैं ? किन्तु ऐसा तो नहीं है। व्यवहारकी बात भ्रमरूप नहीं है। व्यवहार व्यवहाररूपसे सत्य है इस कारण भगवान वास्तवमें सर्वज्ञ हैं किन्तु सर्वज्ञपनेका निर्णय व्यवहार दृष्टिसे होता है और आत्मज्ञताका निर्णय निश्चयदृष्टिसे होता है। यदि व्यवहारकी अपेक्षा भी परका जानना सत्य नहीं रहा तो फिर सारे लौकिक व्यवहार मिथ्या हो जायेंगे। सो तो मानते नहीं। अगर मानलें तो बड़ी विपत्तियां और विडम्बनाएँ बन जाय, सब पागलों जैसी बातें करने लगें। हमने तुम्हें कहा देखा ? आप कौन हैं, हम नहीं जानते हैं यों खूब परिचित पुरुषोंके प्रति बातें बोलकर उल्लू बनाया जा सकता है अगर व्यवहारकी बात मिथ्या मान ली जाय तो। ऐसी ही एक घटना हुई है। जब हम ८-९ वर्षके थे हमारे पिता जी गुजर गए थे। बादमें मा ने सब काम संभाला। ९-१० गांवोंका लेनदेन था, खेतीवाड़ी थी। जब हम २० वर्षके हो गये तो ओर्छाके राजाको प्रार्थना पत्र दिया कि हमारी नाबालिक अवस्था थी अभी तक। अब हम संभल गए हैं, इसलिए १४ वर्षके जो ऋण है, रुक्के हैं उनकी म्याद मानी जाय और हमको अधिकार दिया जाय कि हम उन पर नालिश कर सकें। पर एक बार पेशीमें गये, वहां अनुकूल उत्तर मिल गया कि तुम्हें अधिकार है कि तुम १४ वर्षके पुराने रुक्कोंका वसूल कर सकते हो। अब बहुत सोचा हम कि नालिश करें या न करें। तो १२-१३ वर्षका पुराना एक ऋण था। था तो वह २९९ रु० का रुक्का। पहिले जमानेमें १) कम या) ज्यादा दिया जाता था। वहां व्यवहार लगाया तो हो गए हजारों। हजारों रुपयोंकी नालिशका रुक्का बनवाया, एक वकील किया। उसको भी कुछ भेंट किया जो कुछ देना था। अब वह वकील ओर्छासे बदल कर टीकमगढ़ पहुंचा। किसी तरह से उसके पास गया। उससे मैंने कहा कि वकील साहब वही हमारी कहा है ? तो बोले कि आप कौन हैं,

कहांसे आए हैं, वे ऐसा बोलने लगें कि मानो हमें जानते ही न हों। मैं वहा से सीधे उठकर घर चला आया। मैंने सोचा कि यह अभी और कुछ खानेको मांगते हैं इसलिए ऐसा करते हैं। तो अगर यह व्यवहार मिथ्या हो जाय तो कल तक तो हमारा आपसे परिचय था और आज बोलें कि आप कौन हैं? कहांसे आए हैं? यदि ऐसा हो जाय तो सारे लोकमें पागलपनसा छा जायेगा। व्यवहारकी बात व्यवहारके रूपमें सत्य है। इस बुनियादी जैन सिद्धान्तमें व्यवहारकी सच्चाई है किन्तु निरंश-वादोंके यहा व्यवहारसे जानी हुई बातको यों कहते हैं कि जो कोई नींदमें स्वप्नमें कुछ वस्तु देखे तो वह उसका कोरा भ्रम है, अथवा मैं परको नहीं जानता। इसी प्रकार सविकल्प अवस्थामें व्यवहारको जो कुछ जाना जा रहा है वह सब पूर्ण मिथ्या है, भ्रम है, ऐसा निरंशवादमें कहते हैं, जैन सिद्धान्तमें नहीं है। इस प्रकार यहां तक यह सिद्ध किया है कि आत्माकी सब वृत्तियोंका आत्माके साथ संबध है परके साथ सम्बन्धकी बात व्यवहार दृष्टिसे विविक्त होती हैं।

नय नयनके प्रणयनका निष्कर्ष— निश्चय और व्यवहारनयसे दर्शन, ज्ञान, चारित्रके सबधमें विनिश्चय बनाकर अब उसके शिक्षारूपमें क्या ग्रहण करना है, ज्ञानी जीव उससे क्या शिक्षा पाता है? इस पर कुछ दृष्टिपात किया जा रहा है। जिन पुरुषोंने शुद्ध द्रव्यके अवलोकनमें बुद्धि लगाई है और ऐसी स्थितिमें जो उन्हें तत्त्व दिखता है वे पुरुष केवल एक शुद्ध स्वरूपको ही निरख रहे हैं। उनकी दृष्टिमें कोई दूसरा द्रव्य किसी दूसरे द्रव्यमें भी नहीं करता है। फिर भी ज्ञान ज्ञेयको जानता तो है। यह सब ज्ञानके स्वभावका उदय है, वह ज्ञानसे सब कुछ जानता है। जैसे दर्पणमें सामने की चीज प्रतिभासित हो गयी हो, फिर भी दर्पणका उस परवस्तुमें प्रवेश रंच भी नहीं है। द्रव्य जो परद्रव्यके आकाररूप प्रतिभास गया है यह दर्पणकी स्वच्छताका प्रताप है किन्तु उसमें परद्रव्य प्रवेश कर गया हो यह रंच बात नहीं है। इस ही प्रकार इस ज्ञानतत्त्वमें कोई पर-ज्ञेय प्रवेश कर गया हो यह रंच बात नहीं है। यह तो ज्ञानके स्वभावकी ही कला है जो ज्ञान ज्ञेयको जानता है। कोई इस मर्मको जाने तो उसमें परका प्रवेश नहीं। कोई इस मर्मको न जाने तो उसमें भी परका प्रवेश नहीं है।

तत्त्वसे व्यर्थ च्युत होनेका खेद— अहो जब परपदार्थसे अत्यन्त विविक्त यह ज्ञानतत्त्व है तो यह जगत ये जीवलोक क्यों अन्य द्रव्योंकी ओर बुद्धि लगाकर इस तत्त्वसे च्युत हो रहे हैं? चीज जो है सो है, माना

जाय तो पार हो जायेगा, न माना गया तो संसारमें रुलेगा। किसीके सोचनेसे वस्तुस्वरूप अन्य प्रकार नहीं हो सकता है। जब इस आत्माका परपदार्थको जानने देखने त्यागने और श्रद्धान करने तकका भी सम्बन्ध नहीं है, यह जीव स्वयंके ही ज्ञानरूप, दर्शनरूप, त्यागरूप, चारित्ररूप, श्रद्धानरूप परिणमाता है। जब गुणवृत्तिका परसे सम्बन्ध नहीं है तो पर का कर्ता मानना भोक्ता मानना यह तो कितनी बड़ी भारी भूल है। प्रत्येक पदार्थ अपने ही शुद्ध स्वभावसे हुआ करता है। द्रव्यका जो निजभाव है वही द्रव्यका स्वभाव है। द्रव्य अपने स्वभावसे ही हुआ करता है। क्या स्वभावका कोई अन्य द्रव्य कुछ लगता है अथवा किसी अन्यद्रव्यका यह स्वभाव कुछ होता है ? कोई सम्बन्ध नहीं है।

एक दूसरेके परस्पर असम्बन्धमें एक लोकदृष्टान्त— इसे एक लोकदृष्टातसे समझिये कि जैसे चांदनी रात्रिमें चांदनी छिटक रही है तो यह चांदनी पृथ्वीको उज्ज्वल कर रही है फिर भी पृथ्वी चांदनीकी कुछ नहीं हुई। चांदनी पृथ्वीकी कुछ नहीं हुई। इसी प्रकार यह ज्ञान ज्ञेय पदार्थ का सदा जानता रहता है तो भी ज्ञेय ज्ञानक नहीं हो जाता, ज्ञान ज्ञेयका नहीं हो जाता। जैसे धनके लोभी पुरुष इस बात पर बड़ी रिस करते हैं कि हाय यह धन मरने पर क्यों साथ नहीं जाता। कमाने पर भरोसा है ना। जोड़ते हैं, और जानते हैं कि लक्ष्मीका आना हमारे बांयें हाथका खेल है। सो अरबपति भी इस बात पर गुस्सा रख रहे हैं कि मेरे पास तो अरबोंकी सम्पत्ति है। मरने पर यह कुछ भी साथ क्यों नहीं जाती ? इसी तरह रागी लोग, आसक्त लोग दूसरे प्राणीके प्रति ऐसी रिस रखते हैं, क्रोध रखते हैं कि हमारा तो इतना तीव्र अनुराग है पर हम और ये एक क्यों नहीं बन जाते ? दो क्यों बने हुए हैं ? कोई बड़ा प्रभावी है, बड़े बड़े मकानोंको बना देने में दिनो या महीनेका ही मेरा काम है, इस भ्रमसे यह कर्तापन और भोक्तापनका भूत इसके सिर पर लदा हुआ बना रहता है किन्तु कोई कैसे ही प्रवरतो, वस्तुका स्वभाव तो कभी बदला नहीं जा सकता।

ज्ञानके वृत्तिकी अनिवार्यता— भैया ! ज्ञान ज्ञेयको जानता है। इस तरह ज्ञेयका ज्ञानके साथ और ज्ञानका ज्ञेयके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं हो जाता। किन्तु यह ज्ञानके शुद्ध स्वभावका उदय है। यह कुछ क्षण गम खाये, न जाने कुछ, ऐसा नहीं हो पाता। क्या करें विवश है यह ज्ञान। यह चाहे भी कि मेरे ज्ञानमें कुछ न आये तो भी क्या होगा ? क्या है कोई ऐसा प्रसग कि यह ज्ञान ज्ञानकार्यको छोड़कर रहता हो। पुरुष

बेहोश हो जाता है। ऐसी स्थितिमें बाहरी लोग जानते हैं कि इसका ज्ञान काम नहीं कर रहा है, पर ऐसा नहीं है। किसी भी रूपमें करे, ज्ञान निरतर कार्य कर रहा है। यह उसका स्वभाव है। जैसे दर्पण परपदार्थको झलकाये बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता है, ट्रकमें धर दोगे तो ट्रकके पहले को झलका देगा, कपडेमें रख दोगे तो कपडेको झलका देगा। कहीं ले जावो दर्पणको, उसमें परपदार्थ अन्य प्रतिभासित हो जायेगा। इसी तरह ज्ञानका क्या बनाओगे जिससे ज्ञानमें ज्ञेय प्रतिभासित न हो।

निर्विकल्प समाधिमे भी ज्ञानवृत्तिकी निरन्तरता— छद्मस्थपुरुष निर्विकल्प समाधिके समय अन्य सब चिन्ताओंको रोक देते हैं। समस्त परके विकल्प दूर हो जाते हैं। तो वह निर्विकल्प ज्ञान क्या सचमुचमें किसी भी ज्ञेयको नहीं प्रतिभास रहा है, ऐसा नहीं हो सकता। पर ज्ञेय नहीं प्रतिभासता तो आत्मा ही ज्ञेय हो रहा है और ज्ञानके विषयमे आत्मा आता है तो ज्ञानका विकल्प करते हुए आता है। रागद्वेषके विकल्पकी बात नहीं कह रहे हैं। जैसे हम धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य आदिकके सम्बन्धमे कुछ जानते हैं तो जैसे वहा अर्थग्रहणरूप विकल्प है इसी तरह ज्ञान द्वारा जब हम केवल शुद्ध सहज स्वभावमय आत्माको जानते हैं तो वहा आत्म ग्रहणरूप विकल्प होता है। यह जाने बिना कैसे कभी रह सकता है ? मैं ज्ञानमात्र हू, जानन बना रहना इसका कार्य है। इसके अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध तो नहीं है इस दुनियासे। इस वस्तुमर्मकी बात जब उपयोगमे नहीं रहती तब यह जीव दीन हीन भिखारी होता हुआ परद्रव्यके सचयमें, स्पर्शमे, भोगमें अपनी बुद्धि बसाये रहता है। सो इन वृत्तियोंके कारण यह जन्म मरण लम्बा बनाता रहेगा।

ज्ञानदृष्टिका महापुरुषार्थ— भैया ! यदि जन्म मरणके चक्करसे दूर होना है तो अत. ज्ञानदृष्टिरूप महापुरुषार्थ करना होगा। मोह बडा सस्ता लग रहा है पर यह बहुत मँहगा पडता है। पुण्यका उदय है घरमें सर्वसुख साधन है। घरके चार प्राणियोंके साथ खाना पीना, राग करना, उनका पालना पोषना एकदम कितना सस्ता लग रहा है ? धर्मकी बात ज्ञानकी बात तो सुननेमें भी ऊब जाते हैं। कितना समय हो गया, अभी कब तक बोला जायेगा। पर मोह करनेकी बात इसे बड़ी सुगम हो जाती है। कदाचित् दौड़ता हुआ लड़का पास आ जाय तो शास्त्र सुननेकी बात गौण हो जायेगी और उसे पकड़कर गोदमें बैठा लेनेकी बात मुख्य हो जायेगी। कितना सस्ता यह मोह लग रहा है, पर यहासे मरकर कीड़ा मकौड़ा हो जाय, पशु पक्षी हो जाय, अब कहा गये तुम्हारे बाल बच्चे,

कहां गयी हवेली, कहां गया वह वैभव। वस्तुमर्मका परिज्ञान होना यही है सबसे बड़ा भारी सुभवितव्य।

ज्ञानविशुद्धिके यत्नकी करणीयता— भैया! यह राग और द्वेष तब तक उदित होता है, जब तक यह ज्ञान, ज्ञानरूप नहीं बनता और ज्ञेय ज्ञेयरूप नहीं बनता, तभी तक राग और द्वेषका नृत्य चलता रहता है। मैं ज्ञानमात्र हूं, केवल जाननस्वरूप परिणमता हूं। इस मुझ आत्मतत्त्वका अन्य द्रव्यके साथ रंच भी सम्बन्ध नहीं है। यह ही जीव मूढ बनकर परवस्तुके सम्बन्धमें विकल्प बनाकर खुद दुःखी होता है। दूसरा कोई दुःखी करनेमें समर्थ नहीं है। ज्ञानको ज्ञानरूप बनावो और ज्ञेयको ज्ञेय ही रहने दो तो रागद्वेषका चक्र समाप्त होगा। इस वर्तमान स्थितिमें अज्ञान भाव वर्त रहा है तो इस अज्ञानभावका तिरोभाव करके ज्ञानरूप परिणमन बनाओ। जो चीज इस समय है उसको दूर करो और जो अभाव है उसको दूर करो। भाव तो अज्ञानका है उसे दूर करो और अभाव ज्ञानका है सो ज्ञानके अभावको दूर करो। जिससे यह पूर्ण स्वभाव ज्ञायक आत्मतत्त्व प्रकट हो। इसी तैयारीके लिए कुन्दकुन्दाचार्यदेव अब अगली गाथामें कहते हैं।

दंसणणाणचरित्ताणि किंचिवि णत्थिहु अचेयणे विसये।
तम्हा किं घादयदे चेदयिता तेसु विसयेसु ॥३६६॥

हितसम्बोधन— पूज्य श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव जीवको ऐसी आत्मीयताके साथ समझा रहे हैं, एक जीवतत्त्वके नाते से, जगत्के जीवों को बंधु समझ कर, कैसी अनुरागभरी दृष्टिसे समझा रहे हैं जैसे कि लोकमें जिसने बहुत-बहुत रक्षा की हो, किसी बन्धुकी रिश्तेदारकी ओर वह आत्मीयतासे कुछ बात कहे, तो दूसरा भी आत्मीयताके भावसे सुनता है। यों ही आचार्यदेव करुणा करके कह रहे हैं तो सुनने वाले इस दृष्टिके साथ सुनने लगते हैं कि हमारे आचार्यदेव जो कह रहे हैं वह सब हमारे भले की है। आचार्य देव कहते हैं कि दर्शन, ज्ञान और चारित्र तेरा कुछ भी तो नहीं है इन अचेतन विषयोंमें। फिर इन अचेतन विषयोंमें सिर पटक कर क्यों अपना घात करते हो? अथवा जब इन अचेतन विषयोंसे तेरे गुणका कोई सम्बन्ध नहीं है तो अचेतन विषयोंका संग्रह विग्रह संचय विनाशकी बुद्धि क्यों बनी है? क्या विषयोंके संग्रहसे दर्शन ज्ञान चारित्रमें वृद्धि हो जायेगी या इसका विनाश कर देनेसे कुछ अपने गुणोंका विकास हो जायेगा। अरे, इन विषयोंके कारण तू अपना घात क्यों किए जा रहा है? "भोगे तो भोग क्या है, भोगोंने भोगा हमको।"

विषयोंका संक्षिप्त विवरण— भैया ! विषय हैं ५, रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द और इसके अतिरिक्त एक विषय है मनका। वह क्या है ? ऊटपटांग कल्पनाएँ। इन विषयोंमें ही तो यह जीव अपनी रोक कर रहा है। यह जीव और कर क्या रहा है सुबहसे साम तक अथवा दूसरी सुबह तक, सिवाय ६ प्रकारके विषयोंकी धुनिके और यह जीव करता क्या है ? जिसकी जितनी बुद्धि है, जितना जिसका विकास है वह इन्हीं विषयोंमें रम रहा है। खाना, पीना, कमाना, धरना और आगे। चलो तो लड़ना भिड़ना अथवा रागद्वेष करना वे सब हैं विषयोंके आधार पर। इन विषयों में लगकर केवल अपना घात किया जा रहा है। यह घात विषयोंमें लगने से नहीं हो रहा है किन्तु विषयोंको लक्ष्य बनाकर अपने गुणोंके विकार परिणमन करने से हो रहा है।

विषयोंका आत्मामें अप्रवेश— भैया ! परमार्थसे देखो विषय आत्मामें क्या लग जाते हैं ? भोजनमें शब्दादिकोंमें क्या उपयोग प्रवेश करता है ? ये विषय बाहर ही बाहर लोटते हैं और यह उपयोग अपने आपमें गुडगुड़ाकर दुखी होता रहता है। जैसे कोई पड़ौसकी दो स्त्रियों में लड़ाई हो जाय तो वे स्त्रियां अपने अपने दरवाजे पर खडे खडे एक पैर देहरीसे बाहर और एक पैर भीतर रखे, देहरीको दोनों पैरोंके बीच रखे खड़े खडे हाथ पसार-पसारकर तेज गुस्से से इस तरह गालिया और क्रोध भरी बातें करती हैं कि लोगोंको ऐसा लगता है कि कहीं ये कुस्ती न खेल जायें और एक दूसरेको पीस न डालें। अरे कुस्ती तो दूर रही वे तो देहरीके भीतरका भी पैर बाहर नहीं रख रही हैं, अपने ही दरवाजे पर खड़ी-खड़ी तेज गुस्से से गालिया दे रही हैं। यह एक मोटी बात कह रहे हैं। इसी तरह परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धवश कुछ भी परिणमन हो रहा हो किन्तु प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूपके भीतर ही पैर जमाए हुए परिणम रहे हैं। रंच भी तो बाहर नही उठते।

परपदार्थकी अत्यन्त विविक्तता— यह समस्त वैभव जिसके पीछे आज जगत अंधा हो रहा है, अपना आत्मबल बरबाद किए जा रहा है इन विषयोंमें हे आत्मन् ! क्यों अपना घात करते हो ? उनमें रखा क्या है तेरा ? पड़े हैं ये बाह्य पदार्थ। आज जिस मकानमें तू रहता है कदाचित् किसी कारण बेच दे—गरजके कारण अथवा बहुत मकान हैं तो क्या करेगा, किसी कारण बेच दिया जाय तो फिर उस मकानकी ओर तेरी रागदृष्टि फिर रहती है क्या ? मकान तो वही है, पत्थर तो वही है, ढांचा वही है, तो मालूम देता है कि मकानमे तेरा कुछ न था। जब भी मकान

थ अब भी मकान है। तू तो परपदार्थोंको लक्ष्यमें लेकर केवल अपने उपयोग परिणमनको कर रहा है। आज जिसको तुम अपना लड़का समझते हो, मरकर वही पड़ौसमें पैदा हो जाय तो बड़ा हो जाने पर क्या आप उसे अपना समझते हो? नहीं समझते। अथवा तुम्हारा ही लड़का गुजर कर पड़ौसमें क्या जिठानीके भी बच्चा हो जाय तो क्या वह जिठानी उसे अपना समझती है? नहीं। पर वही तो बच्चा है, मरकर जिठानीके हो गया।

अचेतन विषयोंमें आत्माके गुणादिका अभाव—भैया! किसीमें कुछ नहीं है तेरा। तू तो अपने रागके बेसमझके प्रभावमें बहा बहा जो सामने आता है जिस पर प्रीति उत्पन्न होती है उसे ही अपना समझने लगता है। इन अचेतन विषयोंमें न तेरा दर्शन है, न ज्ञान है, न चारित्र है। फिर भी इन विषयोंमें पड़कर तू अपना घात क्यों करता है? वर्तमानमें बहुत मीठा लग रहा है—घरमें रहना, घर वालोंसे राग करना, मस्त रहना, किसीके पीछे दूसरेसे विद्रोह कर लेना, ये सारी बातें आसान लग रही हैं। किन्तु फल क्या होता है सो बहुतोंको तो आखों देखा है। अभी कल परसों तक नेहरूका उपयोग, उस आत्माका उपयोग इस भारतके साथ था, अब जहां भी होंगे वहां भारतका कुछ होगा क्या उनके साथ? कदाचित् मर कर उन देशोंमें पैदा हो जाये जिनका विरोध करते थे तो बडे होनेपर उनका क्या उपयोग बनेगा? तो खुद सोच लो। यही है ससारकी गति। इन अचेतन विषयोंमें हे आत्मन्! तेरा कुछ नहीं है। तू इन विषयोंमें क्यों अपना घात करता है?

व्यामोहमें सुगम की कठिनता व कठिनकी सुगमता—ये विषय तो सब जड़स्वरूप है। तू आत्मा चैतन्यस्वरूप है। तेरा इन जड़ विषयोंमें क्या रखा है? कुछ भी तो नहीं है। फिर उन विषयोंके खातिर क्यो घात करता है? देखो भोग भोगना बड़ा आसान, भोग तजना शूरोंका काम। राग करना बड़ा आसान लग रहा है, पर सद्बुद्धि जगे, स्वभावदृष्टि बने, अपने आपमें अपना सत्य पुरुषार्थ जगे, यह बात इस जीवको कठिन लग रही है। जो स्वाधीन है, परद्रव्यकी अपेक्षासे रहित है, जिस साधनामें किसी अन्य वस्तुकी आवश्यकता नहीं है वह तो इस मोही जीवको लगता है कठिन और जिसमें चूल्हा लकडी, पैसा सब कुछ जुटाने पड़ते हैं, मकान दुकान आदि आरम्भ करने पडते हैं वह काम इसे लग रहा है सरल। देखो तो भैया! खुद ही खुदको लग रहा है कठिन। इस अज्ञानभावका विलय करें तब ही शांति प्राप्त हो सकेगी।

अध्रुवके व्यामोहकी अत्यन्त हेयता— यह सर्वसमागम चंद दिन का है। रहेगा कुछ नहीं। मुट्ठी बाधकर आए हैं और हाथ पसार कर जायंगे। इतना भी नहीं है कि मुट्ठी बाधकर जायें। जो परभवसे कमाकर लाए हैं, मुट्ठी बांधकर आए हैं वह सब खोकर हाथ पसार कर जायेंगे। जब कुछ रहना ही नहीं है इन वाह्य वस्तुवोंमे से तो इन बाह्य वस्तुवोंमें क्यों दिल फँसाकर समय बरबाद करें? आत्माका ही कोई काम ऐसा कर जावो जो आगे भी साथ देगा। ये अचेतन विषय दुर्गतिके कारण हैं, पापके बीज हैं, अस्थिरताको उत्पन्न करने वाले हैं। इन विषयोंके खातिर अपने आप की ऐसी अनन्त प्रभुताको खो दिया यह मिथ्यात्वका ही काम है।

सुगम सत्य साधना— आनन्दनिधान ज्ञानज्योतिर्मय इस आत्म-प्रभुकी दृष्टि न होने पर यह जीव कैसा वेतहासा परकी ओर झुककर दुःखी होता है, इस तथ्यको भी नहीं देख जान सकते हैं। जो ज्ञानी पुरुष हैं। वे ही जगतके क्लेशोंका सच्चा ज्ञान कर पाते हैं। दुःखी होते जा रहे हैं और खुदके ही दुःखका असली पता नहीं पड़ता। यह है अज्ञानी की अवस्था। तीर्थंकरदेव जिसने जब तीर्थंकर प्रकृतिका बंध किया तब यही भावना तो भायी थी कि अहो जगतके ये प्राणी केवल भ्रममें व्यर्थ ही क्लेश पा रहे है। थोड़ा ही तो काम करना है, ये अन्तरसे अपने ज्ञानपरिणमनको वहिर्मुख करके जान रहे हैं, ऐसा न देख करके अन्तर्मुख होकर जानना है।

मुक्तिका सुगम मोड़ और तीर्थङ्करकी भावना— एक खड़ा हुआ पुरुष पश्चिम दिशाको मुँह करके देख रहा है, थोड़ा घूमकर पूरबको मुँह करना है तो ऐसा करनेमें उसे कठिनाई ही क्या पडती है? कुछ भी तो कठिनाई नहीं पड़ती है या वैठे-वैठे ही उत्तर को अभी देखना है तो जरा गर्दन हिलाकर थोड़ा उत्तरको मुँह करना है तो उसमें कौनसी अधिक मेहनत पड़ती है? इसी तरह अपने आपके ही स्वरूपमें पड़ा हुआ यह आत्मा कुछ वाह्य पदार्थोंकी ओर दृष्टि करके तक रहा है। बस उस बाह्यकी ओर दृष्टि नहीं करना है, केवल अपनी ओर ही तो दृष्टि करना है। इतना कार्य कितना कठिन लग रहा है जगतके जीवोंको, इसकी दृष्टि जगे और संसारके संकट मिटें ऐसी भावना तीर्थंकरमें हुई थी। ऐसी भावना नहीं हुई थी कि मैं इन जीवोंको पकड़-पकड़कर संसारसे उठाकर मोक्षमें पहुचा दूं। ऐसी कोई कर्तृत्वके आशय वाली बुद्धि नहीं जगी थी। जो महंतपुरुष होते हैं वे लोग वचनोंमें भी ऐसा नहीं कहा करते है कि मैं ऐसा कर दूगा, मैं ऐसा कर सकता हू। यह तो थोड़ा जानने वाले ही छाती ठोंककर कहा

करते हैं।

विषयोंके प्रसंगका विपाक केवल पछतावा—हे आत्मन्! जिन विषयभोगोंमें तू दौड़ लगा रहा है, उनमें रम-रम कर आखिर तू पायेगा क्या सो तो बता। अब तक मानों कि जैसे ६० वर्षकी उमर है तो कभी छटाक भर खाया, कभी तीन पाव खाया, तो आधसेर का ही अनुपात लगालो, तो १ माहमें हो गए १५ सेर और एक सालमें हो गए ४। मन और ६० सालमें कितने हो गए सो जोड़लो। पूरी एक वैगन भर जायेगी। इतना तो खा डाला फिर भी अभी पेटमें देखो तो वे ही चूहे लड़ रहे हैं। कुछ दिखता ही नहीं है। खैर यह तो जीनेके सवाल वाली बात है। भोगो की बात तो देखो। कितने ही सुगंधित तेलोंको सूंघ डाला, पर उसमें मिला क्या? गध लेना, सुगध लेना ये नासिकाके फायदेकी चीजे नहीं हैं। आखोंको फाड़-फाड़कर सुहावना रंग रूप देख लिया तो उससे क्या मिल गया? समय ही गुजर गया पर हाथ कुछ भी नहीं आया। पाचों इन्द्रियो के भोगोंमे यह वेहतासा होकर लगा फिरा, अतमें पाया क्या? बस पछतावा ही हाथ लगा।

व्यर्थका श्रम—जिनको हम गैर समझते हैं उन बेचारोंके द्वारा मुझे कोई नुकसान होता नहीं और जिन्हें हम अपना समझते हैं उनके लक्ष्यसे, उनकी प्रीतिसे, उनके मोहसे यहां देखो तो बरबादी हो रही है। हे आत्मन तेरा दर्शन, ज्ञान, चारित्र कुछ भी तो नहीं है, अचेतन विषयोंमें तू उन अचेतन विषयोंका क्यों संग्रह विग्रह करता है? प्रेममें जिससे प्रेम करे उसकी बरबादी है और जो प्रेम करे उसकी बरबादी है। आपको चाहिए गोलमटोल लड्डू। आपका बूँदीके लड्डुओंसे प्रेम हो गया, तो अब बतावो लड्डुवोंका क्या हाल होगा? कुचले जायेंगे, उनकी बड़ी दुर्दशा होगी। और उस खाने वालेका क्या होगा? उसकी भी दुर्दशा होगी। उसके भी पेट दर्द करेगा, पड़ा रहेगा या उनके खानेकी तृष्णा बन जायेगी। दूसरे दिन ललचायेगा। और फिर उनके प्राप्त करनेकी आकुलता करेगा। क्या मिला जिससे प्रेम किया, क्या मिला जिसने प्रेम किया? घर गृहस्थी और होती क्या है? रात दिन उसमें अनेक तरहके क्लेश रहते हैं। सभी को रोग शोक लगा है, दूसरोंका संयोग वियोग लगा है। है खाली प्रत्येक जीव अपने स्वरूपमात्र, दूसरोंसे उसका लगता कुछ नहीं है, किन्तु मोहवश यह जीव परकी ओर दृष्टि लगा कर बेचैन होता है।

आचार्यदेव समझाते हैं कि हे आत्मन्! इन विषयोंमें पड़कर तू अपना क्यों घात करता है? तू अपने आपका जो निरन्तर घात कर रहा

है उसको नहीं देखता। उस घातसे तू बच। ये रागद्वेष तब तक ही उदित होते हैं जब तक ज्ञान-ज्ञानरूप नहीं हो जाता, ज्ञेय-ज्ञेयरूप नहीं हो जाता। जब कोई बड़ा विवाद और समस्या उलझ जाय तो कहते हैं कि लो भाई हो चुकी, अब तुम तुम हो, हम हम हैं। अब कोई झगडेकी बात नहीं है। और झगडेकी बात तो तब तक थी जब तक यह भाव था कि हम तुम्हारे कुछ बनें, तुम हमारे कुछ बने। हे आत्मन्! अपने चित्तमें जो रागद्वेष हो रहा है उनका घात करना चाहिए, तू विषयोंमें पड़कर अपना घात क्यों करता है अथवा कोई तत्त्वसे अपरिचित पुरुष इन विषयोंको दुःखदायी समझ कर इनका घात करे, इनका त्याग करे, यह अच्छी बात है, मगर ये विषय उसके लिए दुःखदायी हैं, क्योंकि उसका त्याग ज्ञानसे भरा हुआ नहीं है। इन विषयभोगोंसे परे हो जाना चाहिए और अपनी सभालमें लगना चाहिए। इस आशयसे त्याग किया जाता है वह तो है पद्धतिका त्याग और जैसे किसीसे लड़ाई हो तो त्याग कर विदेश भाग जाय तो जैसे उसके घर छोड़नेका कारण रोष है, इसी तरह त्यागके मर्मसे अपरिचित पुरुषके बाह्य पदार्थोंके त्यागका कारण या तो रोष होता है या चाह होती है या आरामसे जिन्दगी गुजारें, यह परिणाम होता है।

भैया! जब सही पद्धतियोंसे कदम नहीं रखा जाता, है तो फिर जीवनमें अनेक विडम्बनाएँ आती हैं। सो रात दिन कल्पनाएँ करके दुःखी होते हैं। जैसे मान लो अपने यश प्रतिष्ठाके लिए त्याग किया तो त्याग तो कर दिया अब मनचाही बात न हुई, प्रतिष्ठा न मिली, अपनी पोजीशन बनती न देख सके तो रात दिन दुःखी ही होंगे। मान लो रूठ करके यह चला आया, लड़ाई हुई घरमें, लो अब हम भये जाते हैं त्यागी और स्त्री अगर बड़े दिलकी हो तो कहे कि अच्छा हो जावो त्यागी और हो भी गए त्यागी तो वह त्याग तो वैराग्यपूर्ण था नहीं, सो फिर कल्पनाएँ जगती हैं। सो बाह्य पदार्थोंके संग्रह विग्रहमें ही अपना श्रेय मत मानो किन्तु चित्तमें जो रागद्वेषका परिणमन बसता है उसका त्याग करो।

ज्ञानसमान जगतमें आनन्दका कारण अन्य कुछ नहीं है। पहिले यही ज्ञान करो कि इस पर्यायरूपमें उपस्थित हुआ यह मैं क्या सच हूं, कुछ परमार्थ रूप हूं, यह भी मिट जाने वाला है और जिन जीवोंमें हम कुछ पोजीशनकी बात रखना चाहते हैं वे सब भी मिट जाने वाले हैं। एक अनित्य पुरुष अनित्य पुरुषमें अनित्य वस्तुकी चाह करता है जो कि स्वयं अनित्य है, कितनी विडम्बनाकी बात है, सारभूत रंच नहीं है।

लोमड़ी अंगूरके गुच्छोंको नहीं छू सकती तो यह कहकर भागती है कि ये अंगूर खट्टे हैं। ये मोही जीव भी इस निर्विकल्प अनाकुल सहज ज्ञानरूप ब्रह्मस्वरूपका स्पर्श नहीं कर पाते हैं, सो इस आत्महितकी बातको बिगड़े दिमाग वालोंकी करतूत कहकर अलग हो जाते हैं। देखो, रीति ही ऐसी है--मोही मोहियोंसे ही घुल मिलकर चैन पाते हैं, अज्ञानी अज्ञानियोंके ही संगमें रहकर चैन पाते हैं। अच्छा बतावो, यहां जो बहुतसे कबूतर फिर रहे हैं, उनसे तो आदमी अच्छे हैं कि नहीं? अच्छे हैं। कबूतरोंसे कहो कि अरे कबूतरों! तुम अपनी अपनी गोष्ठीसे घुले रहते हो, हमारे संगमें आकर बैठा करो, क्योंकि हम तुमसे अच्छे हैं। वे हमारे पास आकर नहीं बैठेंगे, वे तो अपनी ही गोष्ठीमें बैठेंगे। जो जिस पर्यायमें है, उसको उसी पर्यायकी बिरादरी अच्छी है। जब तक जगत्के जीवोंपर जीवत्वके नातेसे दृष्टि नहीं होगी, तब तक हम धर्मके पात्र नहीं हो सकते। बिरादरी, कुल, जाति--इनकी बात धर्मदृष्टिके समय, धर्मपालनके समय चित्तमें न भूलनी चाहिये। हे आत्मन्! तुम उन अचेतन विषयोंमें क्यों लगा रहे हो? उनसे हटो और अपनी ओर आवो।

देखो भैया! हाथी जैसा बड़ा जानवर जो मनुष्यकी पीठ लात रख दे तो वह जीवित न रह सकेगा, किंतु स्पर्शनइन्द्रियके वशमें आकर वह गड्ढेमें गिरता है और अंकुशसे पीड़ित हो होकर वशमें कर लिया जाता है या वह हाथी भूखके मारे मर जाता है। रसनाइन्द्रियके वशमें होकर मछली लोहकंटकको अपने गलेमें फँसा लेती है और अपने प्राण गँवा देती है। नासिकाइन्द्रियके वश होकर भँवरा जिसमें इतना बल है, कला है कि मोटे काठको भी छेदकर आरपार पहुंच सकता है, किन्तु कमलकी सुगंधके वश होकर जब फूलमें बैठ जाता है और सन्ध्याके समय फूलमें बंद हो जाता है, पर उसको यह बुद्धि नहीं जगती है कि कमलके पत्तेको छेदकर बाहर निकल जावे। वह वहीं भीतर पड़ा हुआ ही मर जाता है। नेत्रेन्द्रियके आधीनताकी बात तो सामने ही खूब रात-बिरात देख लो--चिराग जल रही हो तो ये पतंगे आ आकर उस पर बैठते हैं और मर जाते हैं। कर्णेन्द्रियकी बात देखो—सर्प, हिरण आदि इसी तरह पकड़े जाते हैं। उनको बीनकी मीठी तान सुनाई देती है तो उस आवाजमें मस्त होकर वे निकट आ जाते हैं और पकड़े जाते हैं। एक-एक इन्द्रियके वश होकर जीवोंने प्राण गँवाए तो इन मनुष्योंके लिए क्या कहा जाए? ये तो पाचों इन्द्रियोंके वश हैं। जबसे पैदा हुए और जब तक मरते नहीं हैं—बूढ़े तक किलविल मची रहती है, चैन नहीं पाते हैं।

हे आत्मन्! देख तेरा स्वरूप तो दर्शन, ज्ञान, चारित्र है अथवा तू तो तू ही है, तेरा स्वरूप अवक्तव्य है, किन्तु जो परिणति विदित हुई है, उस परिणतिके द्वारसे निरखकर यह तो निर्णय कर कि तेरा तो स्वरूप दर्शन, ज्ञान, चारित्र है। इसका बिगाड़ हुआ तो तेरे सर्वस्वका बिगाड़ हुआ। यह गुण अचेतन पदार्थोंमें नहीं है, फिर अचेतन पदार्थोंमें क्यों उपयोग लगाए है और अपना घात करता है? वस्तुस्वरूपका वर्णन करके आचार्यदेव अब अगली बातका उपदेश कर रहे हैं। माना जायेगा तो भला होगा, न माना जायेगा तो संसारमें रुलेगा। अब जिस प्रकार अचेतन विषयोंसे निवृत्त होनेका उपदेश किया है तो अब कुछ पढ़े-लिखे लोगोंके ही लिये यह उपदेश किया जा रहा है कि अचेतनकर्मोंमे भी तू क्यों उलझ रहा है।

दंसणणाणचरित्तं किं चि वि णत्थिहु अचेयणे कम्मे।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तेसु कम्मेसु ॥३६७॥

उद्दण्डताकी समस्या— दर्शन, ज्ञान और चारित्र— ये कुछ भी नहीं हैं अचेतनकर्ममें। हे आत्मन्! फिर तू कर्मोंसे क्या घात करता है, तू उन कर्मोंके निमित्त अपना घात क्यों करता है, तू उन कर्मोंके घातके हठपर क्यों तुला हुआ है, उन कर्मों में उलझकर तू अपना घात क्यों कर रहा है?

कर्मकी झांकी— देखो, ये पौद्गलिक द्रव्यकर्म अचेतन हैं, सूक्ष्म-स्कंध हैं। कोई ऐसा सूक्ष्म मूर्तिक वातावरण है कि जिस विजातीय पर-द्रव्यका निमित्त पाकर यह जीव उल्टा-उल्टा चल रहा है। कोई भला लड़का कल तक तो ठीक था और आज ही एकदम उद्दण्ड हो गया तो समझ लेना चाहिए कि किसी उद्दण्ड लड़केने बहका दिया है। यह ज्ञानमात्र आत्मदेव जिसका स्वभाव शुद्ध स्वच्छ जाननमात्र है, किन्तु यह विपरीत चल रहा है तो जानना चाहिए कि कोई विजातीय परद्रव्यका संसर्ग है, जिसके निमित्तसे यह अपनी उल्टी चालसे चालसे चल रहा है। यह जीव जब कषायभावसे परिणत होता है तो कर्म बननेके योग्य जो कार्माणवर्ग-णाएं हैं, उनका बँधन होता है और उसी समय उन स्कन्धोंमें प्रकृति पड़ जाती है। प्रदेश तो उनमें है ही और फलदान शक्तिका निमित्तपना भी निश्चित् हो जाता है। ये सब उसके एक साथ हो जाते हैं।

कर्मस्वरूपनिरूपणमें भोजनपरिणमनका एक दृष्टांत— जैसे अपन भोजन करते हैं तो भोजन करने पर भोजनका जितना स्कंध है, प्रमाण है, उसका सम्बन्ध हुआ और उसमें प्रकृति भी पड़ जाती है कि भोजनका यह

अंश खून बनेगा, यह अंश पसीना बनेगा। पसीना दो घण्टे तक रहेगा, खून दो-चार वर्ष तक रहेगा, यह मास १०-२० वर्ष तक रहेगा, यह हड्डी ५०-६० वर्ष तक रहेगी—ऐसी उसमें स्थिति भी पड जाती है और अनुभाग भी उसमें बन जाता है। खून इतनी शक्ति वाला है, पसीना इससे म शक्ति वाला है और-और धातु अमुक-अमुक अनुभाग वाली हैं--ऐसा उस में अनुभाग भी पड़ जाता है। ऐसा ही जिन कार्माणस्कधोंका बन्ध होता है, उसमें प्रकृति पड़ जाती है कि ये कर्म ज्ञान नहीं होने देंगे, ये कर्म सुख दु:खके कारण बनेंगे। स्थिति पड़ जाती है कि यह कर्म इतने वर्ष रहेगा। वर्षों तक क्या, सागरों रहा करता है अज्ञानियोंके और उनमें अनुभाग भी पड़ जाता है। यह इतने दर्जे तक फल देनेमें निमित्त होगा यों ये अचेतन कर्म हैं। हे आत्मन्! इन कर्मोंमें उलझकर तू क्यों अपना घात करता है?

परमें व्यर्थका उद्यम विकल्प-- ज्ञान, दर्शन और चारित्र अचेतन विषयोंमें नहीं हैं। यह बतानेका प्रयोजन यह है कि हे मुमुक्षु जीव! तू दर्शन, ज्ञान, चारित्रके विकारका विनाश करना चाहता है ना तो तू पर-द्रव्योंमें कुछ विनाश करनेकी मत सोच। परद्रव्योंमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र के विकार नहीं हुआ करते हैं। जीवोंको भ्रांति इन तीनों जगह है अपने सुधार और बिगाड़में—विषयमें, कर्ममें और देहमें। सो इनमें सहार उद्धारका विकल्प करके यह मोही अपना सहार कर रहा है।

विषयोंमें भ्रांतिका कारण– विषयोंमें यों भ्रांति हो गई है कि रागद्वेष परिणाम जो उत्पन्न होते है, वे किसी परविषयक विकल्प करते हुए होते हैं। जिन परद्रव्योंका आश्रय करके ये रागादिक भाव होते हैं, उन विषयोंमें अज्ञानी जनोंको यह भ्रांति हो गई है कि ये विकार इन विषयोंसे उत्पन्न हुए हैं और जब अपने विकारका विनाश करनेके लिये धर्मबुद्धि करता है तो इस भ्रांतिके कारण परद्रव्योंमे घात, त्याग, विकल्प करना चाहता है।

कर्मोंमे भ्रांतिका कारण-- कर्मोंमें अपने विकारकी भ्रांति इसलिए हो गई है कि चूंकि कर्मोंका उदय आदिका निमित्त पाकर ये विकार हुआ करते हैं। इस कारण इनको उन कर्मोंमें यह भ्रांति होती है कि ये विकार कर्मोंसे हुआ करते है। कभी आत्माके शुद्ध सहजस्वरूपका वर्णन सुन लिया तो भ्रांतिके उपादान वाले जीवोंको फिर यह भ्रांति होती है कि राग-द्वेष तो कर्मोंकी ही चीज है, कर्मोंमें ही होते हैं। सो कर्मोंका घात करना चाहिए अथवा खूब चद्दर तानकर सोना। फिकर क्या है? रागद्वेष तो कर्म

में होते हैं। इस प्रकरणके बतानेका प्रयोजन यह है कि ये विकार राग-द्वेषादिक जब तक उदित होते हैं, तब तक ज्ञान ज्ञानरूप नहीं होता और ज्ञेयको ज्ञेयरूप नहीं रहने दिया जाता। जैसे कोई पुरुष किसी भ्रममें आकर अपना बड़ा नुक्सान कर रहा हो तो उसे देखकर लोग यह कहते हैं कि बेचारा क्या करे, भ्रम होनेकी बात तो थी ही? इसी तरह अज्ञानी जनोंको अपना कर उनकी बात देखी जाए तो यह कहा जाएगा कि ये बेचारे भोले प्राणी क्या करें, भ्रमके लायक तो उनकी बात ही थी। जरा और बढ गए, भ्रम पक्का बना लिया। भ्रमके लायक बात यों थी कि राग-द्वेषके निमित्तभूत कर्म भी ऐसी अपनी बड़ी तैयारीके साथ परिणमना करके कि देखो जब कर्म आता है तो प्रदेशबंध हो जाता है और उसी समय उन प्रदेशोंमे प्रकृतिबंध हो जाता है। इतना प्रदेश सुख-दुखके उत्पन्न करनेमे इतने ज्ञानका आवरण आदिमे निमित्त होगा। ऐसा विभाग बन जाता है, उनकी स्थितिया बन जाती हैं। ये स्कध इतने सागर तक रहेंगे और उनमें अनुभाग बन जाते हैं– ऐसी जो विकट तैयारीसे परिणमें और कर्म उदयमें आए, उसमें यह विचार करेंगे कि कुछ भ्रममें पड़ गया और भ्रम बढ़ा लिया। अपना विगाड़ कर लिया तो क्या करे बेचारा? यों देखा जा सकता है उन अज्ञानी जनोंको कुछ अपने बधुत्वका नाता रखकर।

प्रज्ञापूर्ण दृष्टिमें विकारकी निराधारता-- भैया! अपनी प्रज्ञापूर्ण बात तो यह है कि जो अवस्था जिस वस्तुमें पाई जाती है, उस वस्तुमें उसको तकें। ये रागद्वेष आत्मामें पाये जाते हैं। आत्मामें दर्शन, चारित्रके विकार हैं उसमें देखो जरा और विवेक करो तो ये रागद्वेष कहीं नहीं पाये जाते हैं--न आत्मामे पाये जाते हैं, न कर्मोंमें पाये जाते हैं। जैसे दर्पणमें परपदार्थका जो प्रतिबिम्ब हो गया है, वह प्रतिबिम्ब किसका है? अनभिज्ञतापूर्ण जवाब तो यह है कि परपदार्थका है और कुछ थोडे विवेक का जबाब यह है कि दर्पणका है और सूक्ष्मदृष्टि वाले पुरुषका जबाब यह है कि प्रतिबिम्ब कहीं है ही नहीं, न दर्पणमें है, न परपदार्थमें है, परन्तु उस काल ऐसा ही योग मिला। निमित्त सन्निधान है कि यह दर्पणमें यह बिम्ब झलक बैठा।

कर्मोंके आस्रवके साक्षात् कारणके सम्बन्धमें विचार-- कर्मके आस्रवका साक्षात् कारण क्या है? निमित्तकी बात कह रहे हैं। जो नवीन कर्म आस्रवको प्राप्त होते हैं, उनका साक्षात् निमित्त क्या है? क्या रागद्वेष परिणाम है? रागद्वेष परिणाम नवीन कर्मोंके आस्रवके साक्षात्

कारण नहीं हैं, किन्तु नवीन कर्मोंके साक्षात् निमित्त हैं उदयागत पुद्गल। उदयमें आये हुए कर्म नवीन कर्मोंके आस्रवके साक्षात् निमित्तभूत हैं। बात कुछ नईसी लगेगी, पर यह बात सिद्धान्तमें लिखी है। बहुत सूक्ष्म बात होनेसे सिद्धान्तमें हर एक जगह नहीं लिखा है। हर जगह यही देखने को मिलेगा कि रागद्वेष भावोंका निमित्त पाकर नवीन कर्मोंका आस्रव होता है, किन्तु यहा बिलकुल यथार्थ बात यह है कि उदयमें आये हुए पुद्गलकर्म का निमित्त पाकर नवीन कर्मोंका आस्रव होता है और उदयमें आये हुए कर्मोंमें नवीन कर्मोंके आस्रवका निमित्तपना आ सके, इस बातके लिये निमित्त होता है रागद्वेष भाव। तब नवीन कर्मके आस्रवके निमित्तभूत उदयागत पुद्गल कर्मोंमें निमित्तत्वके निमित्तभूत रागद्वेष परिणाममें उप-चारसे सीधा यों कहा जाता है कि रागद्वेष भावका निमित्त पाकर नवीन कर्मोंका आस्रवण हुआ।

दृष्टान्तपूर्वक निमित्तत्वके निमित्त होनेका स्पष्टीकरण-- अच्छा अब एक मोटी बात लो—एक आदमी अपने पालतू कुत्तेके साथ जा रहा था। दूसरा पुरुष जो इस कुत्ते वालेका अनिष्ट था, उसके प्रति मालिकने कुत्तेको सैन कर दी छू छू, वह कुत्ता उस पर झपट पड़ा। अब यह बताओ कि उस अनिष्ट पुरुष पर साक्षात् आक्रमण किसने किया? साक्षात् आक्र-मण कुत्तेने किया और कुत्तेमें आक्रमण करनेकी दम आई, ऐसी सैन किसकी मिली? मालिक की। जैसे मालिककी सैन पाकर कुत्तेमे आक्रमण करनेका बल हो जाता है, इसी प्रकार रागद्वेषपरिणामकी सैन पाकर उदयागत पुद्गलकर्मोंमें नवीन कर्मोंके आस्रवका निमित्तपना आ जाता है। इस सम्बन्धमें समयसारके आस्रवाधिकारकी प्रथम गाथाओंको देखने और उन पर ऊहापोह करनेसे इसकी झलक मिलेगी। तब ऐसा है कि नवीन कर्मोंके उदयका निमित्त पुद्गलकर्म है। तो यह कहना चाहिये कि कर्मोदय होनेसे नवीन कर्मोंका आस्रव होता है, किन्तु कर्मोदयमे नवीन कर्मोंके आस्रवका निमित्तपना आये, इसके लिए निमित्त है रागद्वेष परि-णाम। तब यह कहा जाएगा कि केवल उदयसे कर्मका आस्रव नहीं होता, किन्तु रागद्वेष हो तो आस्रव होता है।

कर्मोदय होने पर भी बन्ध न होनेके वर्णनका प्रथम रहस्य--जय-सेनाचार्यजीकी टीकामे जहाँ यह वर्णन आया है कि उदयमात्रसे कर्मबन्ध नहीं होता है, यदि कर्मोदयमात्रसे बंध होता है तो फिर मुक्तिका अभाव हो जाएगा। उस शब्दके दो-तीन अर्थ निकलते हैं, केवल एक ही भाव नहीं है। एक तो रहस्यभूत यह बात है कि चूँकि नवीन कर्मोंके बँधमें निमित्त

कर्मोदय है और कर्मोदयमें नवीन कर्मोंके बंधका निमित्तपना आ सके, इसके लिये निमित्त होता है रागद्वेषपरिणाम। तब यही बात निकली ना कि रागद्वेष परिणाम हो तो कर्मोंका बंध होता है। केवल उदयमात्रसे कर्मोंका बंध नहीं होता है, पहिला भाव तो यह लगाना।

कर्मोदय होने पर भी बन्ध न होनेके वर्णनका द्वितीय रहस्य— दूसरा भाव यह लगाना कि जहां निमित्तभूत विभावका अत्यन्त जघन्य भाव प्राप्त है, ऐसे दसवें गुणस्थानमें जहां सूक्ष्म दृष्टिगत स्पर्द्धकोंका उदय है और सूक्ष्मदृष्टिरूपसे लोभकषायका परिणमन है, उस जगह कर्मोंका उदय है, फिर भी कर्मोंके बंधका कारण नहीं हो रहा है, इसलिये कर्मके उदयमात्रसे बंध नहीं होता।

कर्मोदय होने पर भी बन्ध न होनेके वर्णनका तृतीय रहस्यकी भूमिका— तीसरा भाव यह लेना कि कर्मोंके उदयका आना दो प्रकारसे देखा जाता है। एक उदयावलीमें वे स्पर्धक आ गए, इसका भी नाम उदय है और उदयावली होती है असंख्यात समयोंकी, उन असंख्यात समयोंमें जो निषेक है, जहां एक समयमें उदयको प्राप्त होता है, उस एक समयमें आनेका नाम उदय है। जैसे कर्मोंकी विचित्र अवस्था हुआ करती है, इन दोनोंमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। जहां नाना प्रकारके विभाव हों, वहां कर्मोंकी अवस्था निमित्त है। कर्मोंकी नाना दशाएँ बनानेमें जीवके परिणाम निमित्त हैं। इस जीवके जो एक समयमें कर्मबँध हुआ, जितनी स्थितिको लेकर उसमेंसे अबाधाकालको छोड़कर शेष स्थानोंमें निषेक पसर जाते हैं और वे निर्णीत हो जाते हैं कि एक समयमें बँधे हुए कर्मोंसे। जैसे कि मानों हजारों वर्षों तक उदय रहता है। तो पहिले समयमें उस समयप्रबद्धमें से जितने प्रमाणु उदयमें प्राप्त होंगे, उससे कम दूसरे समयमें, उससे कम तीसरे समयमें, इस तरह कम-कम चलते-चलते अंतमें हजारवें वर्षके आखिरी समयमें उस समयके बांधे हुए कर्मवर्गणावोंमें अत्यन्त कम प्रमाणमें कर्मपरमाणु उदयमें मिलेंगे, किन्तु अनुभागका हिसाब इससे उलटा है। जहां बहुतसे परमाणुवोंका उदय है, वहां अनुभाग शक्ति कम है और अगले-अगले समयमें अनुभागशक्ति विशेष बढ़ी हुई है और अंतमें जो खिरेगा, उसमें अनुभागशक्ति विशेष है।

समयप्रबद्धका निषेकविस्तार— जैसे मानों पहिले मिनटमें बन्ध हुआ, कर्मोंका उसका फैलाव हुआ एक हजार वर्ष तकमें, तो दूसरे मिनटमें बन्धे हुए कर्मका उसी तरह फैलाव हुआ, तीसरे मिनटमें भी बंधे हुए कर्मका इसी तरह फैलाव हुआ तो समझो कि एक समयमें जितने निषेकों

का उदय आता है। वह हजारों, लाखों, करोड़ों, अरबों साल पहिलेके बँधे हुए कर्मोंके बहुत वर्षोंके बँधे हुए कर्मोंके हिसाबसे आए हुए एक समयमें उदय होता है। तब उनकी इस अनुकृष्टि रचनासे जैसा अनुभाग जिस समयमें जैसे अनुभागका लिए हुए कर्मोंका उदय होता है। ऐसी दशामें किसी समय कर्म भार थोड़ा उदित है, किसी समय अधिक उदित है ऐसा विचित्र कर्मभार कर्मोंकी ही वजहसे उनके ही सत्त्व और अनुभागके बँटवारेके कारण हीनाधिक शक्तिवाला कर्म उदयमें आता है। यह तो है कर्मोंकी दशा और यहां जीवके विभावोंकी भी ऐसी विचित्र दशा है कि प्रथम तो जैसा कर्मोंका उदय हुआ—कभी मंद, कभी तीव्र, अनुभाग वाला, उस प्रकार वहां परिणमन हुआ और फिर भी भावस्थान अनन्तगुणे हैं, उदयस्थान, भावस्थानसे कम है।

उदयस्थानोंसे भावस्थानोंकी अधिकता— जैसे १-१ पैसा मिलकर एक आना हुआ और एक-एक आना मिलकर १६ आने हुए, तब जाकर रुपया बना। फिर इसके बाद एक एक पैसा मिलाया तो एक आना हुआ और उससे एक-एक आना मिलाया तो १६ आने हुए, तब जाकर १ रु० हुआ। इस तरहसे आप लगाते जावो तो रुपयेका स्थान कम रहा और पैसोंका स्थान अधिक रहा। जब जाकर ६४ पैसे हुए तब १ रुपयेका स्थान हुआ। तो जैसे रुपयेका स्थान कम है पैसेका स्थान अधिक है इसी तरह उदय स्थान कम होता है और भावस्थान अधिक होता है। उदयस्थानमें जो एक यूनिट है, उदयस्थानका एकत्व है जो एक उदय स्थानमें अनगिनते भावस्थान पड़े हुए हैं तब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके अनुसार यहां यह अवसर है कि एक उदयस्थानके होते हुए भी उसमें जितने भावस्थान गर्भित हैं उनमें से जघन्य भावस्थान बनाया मध्यम भावस्थान बना या उत्कृष्ट भावस्थान बना। ऐसे दोनों निमित्तोंमे जीवभाव और कर्म दशा दोनों निमित्तोंमें इस तरहका संतुलन और असतुलन होनेके कारण कभी कभी विचित्र विचित्र घटनाएँ बन जाती हैं।

स्तिबुक संक्रमण— इस प्रक्रियामें चलते हुए कोई ऐसी भी घटना बनती है कि उस जातिके स्पर्द्धक उदयावलीमें आए पर जैसे कोई जवान, शत्रुके सिर पर चढ आने पर भी सावधानी वर्त सकता है इसी प्रकार कोई ज्ञानी उदयावलीमें कर्मोंके आने पर भी सावधानी वर्त सकता है। ऐसा साहस ज्ञानीमें पड़ा हुआ है। और इस सावधानीके प्रतापसे विशुद्ध परिणामोंका निमित्त पाकर उदयक्षणसे पहिले उदयावलीमें आये हुए भी कर्म संक्रमणको प्राप्त हो जाते हैं। इसका नाम करणानुयोगमें है—स्तिबुक

संक्रमण।

भवस्थितिवश संक्रमण— कितने ही स्तिबुक संक्रमण तो इस जीव की परिस्थितिवश हुआ करते हैं। जैसे इस समय हम और आप मनुष्य हैं, भोगमें आ रहा है मनुष्यगतिका उदय और उदयावलीमें चल रहे हैं चारोंगतियोंके उदय। हम और आपकी बात है यह। हम और आपके नरकगतिका भी उदय आ रहा होगा, तिर्यञ्च गतिका भी उदय आ रहा होगा, देवगतिका भी उदय आ रहा होगा और मनुष्यगतिका तो उदय स्पष्ट ही है। लेकिन द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी परिस्थितिवश वे तीन गति के उदय उदयावलीमें आकर भी उदयक्षणसे पहिले मनुष्यगतिरूप संक्रमण करके ये खिर जाया करते हैं। तो कोई ऐसा स्तिबुक संक्रमण सेनापति जैसा शासन कहीं तो परिस्थितिवश होता है और कहीं ज्ञानबलके वश होता है, इतना अन्तर है।

ज्ञानसाध्य संक्रमण— इन सब मनुष्योंकी परिस्थितिवश हो रहा है ऐसा अन्यगतियोंका संक्रमण और ज्ञानीसंत पुरुषोंके ज्ञानबलसे कषायादिक प्रकृतियोंका संक्रमण ऐसा हो जाया करता है। यदि इस स्थितिको देखो तो उदयावलीमें कर्म आए इसलिए उदय कहलाया, पर उदयमें आकर भी कर्मके आश्रव करनेका निमित्त नहीं बन सका यह उदयागत कर्म। इस कारण यह बात यथार्थ है कि केवल उदयमें आने से कर्मोंका आश्रव नहीं होता, किन्तु रागद्वेष परिणाम हों तो आश्रव होता है।

विभावोंमें निमित्तनैमित्तिकता— एक विशेषता और है। चेतन अचेतन पदार्थोंका परस्परमें निमित्तनैमित्तिक भाव प्रतिबन्धकका अभाव रहे तो अनुरूप कार्य होना अटल है। जैसे चूल्हा जल रहा है, चूल्हे पर पानी भरी बटलोही रख दी, अब यहां माला रखकर जपते जावो कि हे भगवान पानी न गरम हो, पानी न गरम हो तो इससे वहां कुछ भी असर नहीं है। वहां चेतन अचेतनका परस्परमें निमित्तनैमित्तिक चल रहा है। इसी तरह अचेतक श्रद्धागुणमें, अचेतक चारित्रगुणमें अचेतक कर्मोंका निमित्तनैमित्तिक चल रहा है। वहां प्रतिबन्धक है ज्ञानबल। प्रतिबन्धक ज्ञानबलके अभावमें यह निमित्तनैमित्तिक भाव बनना एकदम आम खुली बात है। हां प्रतिबन्धक ज्ञानबल आगे आ जायेगा तो उदयक्षणसे एक समय पहिले वे मिटा भी दिये जा सकते हैं। इस तरह कर्मका और चेतन का युद्ध चलता है। ज्ञानीपुरुष इस युद्धमें सफल हो जाते हैं, अज्ञानीजन इस युद्धमें हार जाते हैं, और संसारके जन्म मरणके चक्कर बढ़ाते रहते हैं।

घनिष्ट सम्पर्क होने पर भी कर्ममें आत्मगुणका अत्यन्त अभाव—कर्मोंका आत्मपरिणमनके साथ एक निमित्तनैमित्तिकरूपमें घनिष्ट सम्बन्ध है और इसी कारण अनेक पुरुषोंने ये इन विभावपरिणमनोंको इस तरह देखा है कि जैसे मानो सर्व नाच ये कर्म ही कर रहे हैं और यह आत्मा तो केवल उनके कृत्योंको अपना रहा है। यहा तक भी अनेक पुरुषोंकी दृष्टि चली जाती है। ऐसे भी घनिष्ट सम्बन्ध वाले कर्मोंमे हे आत्मन्! तेरे दर्शन ज्ञान और चारित्र नहीं हैं, फिर उन अचेतन कर्मोंमे तू क्या घात करता है? इस प्रकार कर्मोंके संग्रह विग्रह आकर्षण दृष्टि गुणगान आदिक श्रमोंको दूर करके अब अचेतन शरीरके सम्बन्धमें कहा जा रहा है।

दंसणणाणचरित्तं किं चि णत्थि हु अचेयणे काये।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तेसु कायेसु ॥३६८॥

शरीरमें आत्मगुणोंका अत्यन्त अभाव—हे आत्मन्! अचेतन कायमे तेरा दर्शन ज्ञान और चारित्र नहीं है फिर क्यों उन अचेतन कायोंमें घात कर रहा है। यह सभीको विदित है कि इन प्राणियोंकी दृष्टि इस शरीरपर बहुत अधिक है। जैसा भी शरीर हो, सभी अपने शरीरमें आसक्ति बुद्धि किए हैं। यह दूसरेके शरीरमें कैसे प्रेम करले? वहा तो इस आत्माका किसी प्रकारका औपचारिक भी सम्बन्ध नहीं है। कल्पनाएँ करके कोई ऊधम मचावे तो यह तो एक उद्दण्डताकी बात है। पर जैसे खुदके अधिष्ठित शरीरके साथ इसका सम्बन्ध है इस प्रकार परशरीरके साथ जीवका सम्बन्ध नहीं है। सो करता है यह शरीरसे प्रेम। किन्तु ये शरीर प्रीतिके लायक नहीं हैं। इस शरीरमें क्या सार दिखता है? जिस पर यह आत्मा अपनी प्रभुताका घात करके अपना अमूल्य समय खो रहा है।

शरीरमें सारत्वका रच भी सद्भावका अभाव—शरीरमें अन्दरसे लेकर बाहर तक कोई भी धातु पवित्र नहीं है। अचेतन है, गध बहाने वाली हैं, नष्ट हो जाने वाली हैं और इसके सेवा करते-करते भी यह रोगी होता है। इस शरीरमें कौनसी चीज ऐसी है जिसके पीछे पागलपन छाया रहता है। यह स्वभावसे अपवित्र है, पापका बीज है, दुखोंका कारण है। अंधकारमें भटकानेके लिए एक बलाधान निमित्त है, ऐसे इस शरीरसे रात दिन प्रीति रहना, रुचि होना ये सब ससारमे कुयोनियोंमें भ्रमाते रहनेके उपाय हैं। इस शरीरसे दृष्टि हटाकर आखे बद करो, इन्द्रियोंको सयत करो, कुछ अपने आपको तो देखो, यह विशुद्ध ज्ञानज्योतिस्वरूप एक परमात्मतत्त्व है। उस अपनी प्रभुताको भूलकर व्यर्थ भिन्न असार वस्तुवों मे क्यों अपना उपयोग लगाए फिरता है। यह तेरा कर्तव्य नहीं है। क्यों

उन शरीरोंमें उपयोग लगाकर यह प्रभु अपना घात कर रहा है अथवा उन शरीरोंको ही सुख और दुःखका कारण मानकर वहां ही संग्रह और विग्रह कर रहा है अथवा उन शरीरोंका लक्ष्य रखकर उन शरीरोंके प्रयोजनके लिए अपने दर्शन, ज्ञान, चारित्रका घात कर रहा है।

शरीरकी शरारत-- इस शरीरको उर्दूका शरीर शब्द लें तो उसका अर्थ निकलता है धूर्त, बदमास। शरीरका विरुद्ध शब्द है शरीफ। शरीफ मायने सज्जन और शरीर मायने दुष्ट। शरीर शब्दका व्युत्पत्त्यर्थ लगाये तो शीर्यते इति शरीर। जो जीर्णशीर्ण हो उसे शरीर कहते हैं। इस शरीर की कुछ इज्जत है तो तब तक है, जब तक जीवका सम्बन्ध है। जीवके निकलनेके बाद इस शरीरसे कोई मोह भी करता है क्या? जल्दी पड़ती है जलानेकी। इसे देर मत करो, नहीं तो मुहल्लेमें हैजा फैल जाएगी। इस शरीरमें कौनसी सारभूत वस्तु है, जिस पर दीवाना बनकर अपने आपको भूलकर अंधकारमें दौड़े चले जा रहे हैं।

शरीरकी क्या संभाल-- भैया! दूसरी बात यह है कि शरीरकी संभालके ध्यानसे भी शरीर संभलता नहीं है। रईश लोगोंके बच्चे गोद ही गोदमें फिरा करते हैं, कभी जमीन पर पैर नहीं रखते, तब भी उनके बच्चोंके शरीरकी संभाल नहीं होती है और गरीब लोगोंके बच्चे जो जमीन पर ही लोटा करते हैं, जिनकी कभी कोई परवाह ही नहीं करता है, वे बड़े तन्दुरुस्त और प्रसन्न दीखते हैं। शरीरकी संभाल करनेसे शरीर पुष्ट होगा, यह कोई नियम नहीं है। बल्कि आत्माकी संभाल करनेसे शरीरको स्वयमेव ही ऐसा वातावरण मिलता है कि यह पुष्ट और कान्त होता है।

शरीरप्रकृतियोंकी विषमता-- एक बार राजा कहीं घूमने चला जा रहा था। उसने रास्तेमें देखा कि एक औरत सिरपर डलिया रखे चली जा रही थी। चलते चलते ही रास्तेमें उसके बच्चा हो गया और बच्चेको डलिये में रख करके फिर चलने लगी। राजा सोचता है कि हमारे यहाकी रानियां बड़े नखरे किया करती हैं। बच्चा होनेके ६ महिने पहिलेसे ही तमाम सेवाखर्च चौगुना करना पड़ता है और ६ महीने तक मारे उनके नखरोंके सारा घर परेशान हो जाता है। सोचा कि जैसी यह स्त्री है, वैसी ही वे हैं। जैसे इसके हाथ पैर हैं, वैसे ही उनके हाथ-पैर हैं--ऐसा जानकर उनका सेवाखर्च राजाने बंद कर दिया। बिल्कुल साधारणसा सेवा खर्च रखा। किसी रानीको जब उन चर्चावोंसे ऐसा भान हुआ कि राजाके मनमें यह बात समायी है कि जब गरीब महिलायें चलते-फिरते आसानीसे बच्चे पैदा करती हैं, कोई नखरे नहीं करती हैं और ये रानियां बड़े नखरे

किया करती है, तब रानीने क्या किया कि राजाके बागके मालियोंको हुक्म दे दिया कि कलके दिन इन पौधोंमे पानी नहीं सींचा जायेगा, कलके लिए तुम छुट्टी रखो। दूसरे दिन मालियोंने उन पोधोंको न सींचा तो सारे बेला, गुलाब, चमेली आदिके फूल कुम्हला गए। जब राजाने आकर देखा कि सारे फूल कुम्हला गए हैं तो मालियोंसे पूछा कि इन पोधोंको क्यों नहीं सींचा? मालियोंने उत्तर दिया कि रानीका आदेश था कि कल इन पौधोंको न सींचा जाए। राजाने रानीसे कहा कि बाग सिचना आज क्यों बद रखा। देखो सारे पेड़, पत्ते, फूल मुरझा गए। रानी राजासे बोली कि क्या हर्ज है इसमे? पहाड़ पर इतने पेड़ खड़े है, वे क्या रोज-रोज पानी पाते हैं, फिर भी सदा हरे भरे बने रहते हैं। जब वे पहाड़के पेड़ बिना पानीके हरे-भरे रह सकते हैं तो ये तो मामूली छोटे-छोटे पौधे हैं, एक बार पानी न मिला तो क्या है? राजा बोला कि अरे! वे जगलके पेड़ हैं, ये बागके फेल है, उनकी इनसे तुलना क्यो करती हो? रानी बोली कि वे तो गरीबों की औरते हैं और हम राजाकी रानिया हैं, तुम उनसे हमारी तुलना क्यों करते हो?

शरीरकी असारता-- देखो भैया! पोसते-पोसते भी यह शरीर पुष्ट नहीं होता। यह शरीर असार है, अहित है, असक्तिका ही कारण है, ऐसे इस शरीरसे क्या प्रीति करनी। देखो यह शरीर आहारवर्गणावोंका पिंड है। आहारवगणासे मतलब भोजनसे नहीं है, बल्कि इस लोकमें ठसाठस जो ऐसे परमाणु भरे पडे हैं, जिनका परिणमन शरीररूप हो जाता है, उन्हें वर्गणाएँ कहते हैं। यह शरीर अनन्ताहारवर्गणावोंका पुञ्ज है, इसमें अनेक आहारवर्गणाएँ आती हैं और जाती रहती हैं प्रतिसमय। अनन्ताहारवर्गणाएँ ऐसी जीवके साथ लगी हुई हैं कि जो वर्तमानमें शरीररूप तो नहीं हैं, पर शरीररूप होनेके उम्मीदवार हैं, इसे कहते हैं विस्रसोपचय। जैसे कर्मोंके विस्रसोपचय होता है, इसी तरह शरीरके भी विस्रसोपचय होता है।

शरीरके स्थायित्वका भ्रम-- उन आहारवर्गणावोंके पिंडरूपमें जो कि प्रवेश कर रहे हैं, गल रहे हैं, थोड़ासा भ्रम यह लग गया है कि यह शरीर तो स्थिर है। इस भ्रमका कारण यह है कि अनेक वर्गणाएँ इस शरीरसे निकलती हैं, आती हैं, फिर भी शरीरकी समानतामें अन्तर नहीं आता। इस कारण यह भ्रम हो गया कि यह शरीर स्थायी है। कभी ऐसा नहीं देखा गया यहा कि आज यह मनुष्य जैसा है और कल यह गाय जैसा कहो बन जाए, क्योंकि शरीरवर्गणायें अटपट ढंगसे कहीं कम कहीं

ज्यादा आ जाए, ऐसा नहीं हो रहा है, इसलिए समान आकार बना है। जो कल था, वैसा ही आज है। सो अज्ञानी जीवोंको इस शरीरमें स्थायित्वका भ्रम हो गया है। कभी मरणकी चर्चा आए तो यही ध्यान होता है कि दूसरे मरा करते हैं, अपने आपमें यह विश्वास नहीं जगता कि मैं भी मरूँगा, किसी किसीको तो अपने मरणका ख्याल भी कभी नहीं बनता है। जैसे कि विवाहकी चिट्ठिया बँटती हैं कि अमुक तिथिको विवाह होगा, इसी तरह किसीके मरणके आमंत्रणपत्र नहीं आया करते हैं कि अमुक दिन अमुक समयमें होगा, सो सब लोग आएँ, पर अचानक ही सब ढेर हो जाता है। ऐसे असार विनाशीक भिन्न कायमें हे आत्मन् ! तू क्यों अपना घात करता है।

मनुष्यका व्यामोह—इस शरीरसे और अन्य संतान शरीरसे इतना मोह बढाया है कि खुश होते हैं कि लडका हो गया। कैसे खुश होते हैं कि अब पोता हो गया, ये नाती-पोते हैं। लड़केके लड़केका नाम पोता, लड़की के लड़केका नाम नाती—यों बोला करते हैं कहीं-कहीं, किंतु फर्क तो कुछ होना चाहिए तो लड़कीके लड़केका नाम नाती है। पुत्रके लड़केका नाम पौत्र और पौत्रके अगर लड़का हो जाये तो उसका नाम प्रपौत्र मायने पती। कदाचित् पतीके भी लड़का हो जाए तो उसे बोलते हैं सती। लोग बड़े खुश होते हैं कि यह बड़ा भाग्यवान है बुड्ढा, इसने सतीका मुख देख लिया है। जब मर जाएगा बुड्ढा तो एक आठ आने भरकी सोनेकी नसेनी उसकी चिताके साथ रखी जाती है। काहेके लिये ? जिससे यह बुड्ढा इस नसेनीसे चढ़कर स्वर्गमे पहुच जाएगा। मगर यह तो बतावो कि नसेनी चढनेके ही काममें आती है कि उतरनेके भी काममें आती है ? इसमे तो मेरे ख्यालसे उतरना ज्यादा सभव है। उतरना इसलिए सभव है कि पहिले लड़केसे बहुत मोह किया, फिर पोतेसे बहुत मोह किया, फिर पड़पोतेसे बहुत मोह किया और फिर सतीसे बहुत मोह करके मर गया। जिसने चार-चार पीढियोंमें खूब मोह किया है, उसका तो स्वर्गमें चढ़नेकी अपेक्षा नरकमें उतरना ही अधिक सभव है। जिन अचेतन शरीरोंमें इतना व्यामोह पड़ा है कि ये कुछ भी साथ नहीं होते, ये केवल क्लेशके ही हो जानेके कारण हैं। उन कर्मों में हे आत्मन् ! तू क्यों अपना घात करता है।

उक्त तीनों कथनोंका शिक्षारूप कथन करनेके लिए अब कुछ तीन गाथावोंमें वर्णन कर रहे हैं।

णाणस्स दंसणस्स य भणिओ घाओ तहा चरित्तस्स।
णवि तहिं पुग्गलदव्वस्स कोऽवि घाओ उ णिद्दिट्ठो ॥३६९॥
जीवस्स जे गुणा केई णत्थि खलु ते परेसु दव्वेसु।
तम्हा सम्माइट्ठिस्स णत्थि रागो उ विसयेसु ॥३७०॥
रागो दोसो मोहो जीवस्सेवय अणण्णपरिणामा।
एएण कारणेण हु सद्दादिसु णत्थि रागादी ॥३७१॥

चित्तस्थ विकारके त्यागका उपदेश— भगवान सर्वज्ञदेवने ज्ञान, दर्शन और चारित्रका घात बताया है। शब्दादिक इन्द्रियके विषयोंकी अभिलाषारूपसे और शरीरमें ममत्वके रूपसे कर्मबधोंके निमित्त जो अनेक प्रकारके कषाय जगते हैं, मनमें मिथ्याज्ञान भरा रहता है उस मिथ्याज्ञानका स्वरूपसभालके द्वारा, निर्विकल्प समाधिभावके प्रहारके द्वारा घात करना सर्वज्ञदेवने बताया है कि तू अपने आपमें बनते हुए मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्रका घात करो। अचेतन विषयोंमें, अचेतन कर्मोंमें, अचेतन शरीरोंमें किन्हीं भी पुद्गलद्रव्योंमें कोई घात करनेका हुक्म नहीं दिया है।

अभिन्न अधार आधेयमें एकके घातसे दूसरेका घात— देखो जिस जगह जो बात होती है, उसका घात होने पर वह दूसरा भी घत जाता है। जैसे दीपकमें प्रकाश होता है तो दीपकका विनाश कर देनेसे प्रकाशका भी विनाश हो जाता है या जो जहां होता है, उसका नाश होने पर उस दूसरेका भी विनाश हो जाता है। जैसे प्रकाश मिट जाए तो दीपक भी मिट गया, किंतु जो बात जहा नहीं होती है, वहा उसका घात होने पर भी आधारभूत वस्तुका घात नहीं होता है, जैसे घटप्रदीप। पहिले जमानेमें मिट्टीका एक घरवूला बनाया जाता था, उसमें दिया रखा जाता है। उस घरवूलेमें दिया प्रकाश फैलाता हैं, उसका नाम घटप्रदीप है। जैसे लालटेन है, यह तो शोधित अविष्कार है और पहिले समयमें मिट्टीका ही घरवूला बनाया जाता था याने छोटासा लालटेन जैसा, उसमे दिया रखा जाता था। अब तो वैसा दिया काममें आता ही नहीं हैं। वह दिया बुझ जानेपर घरवूला तो नहीं मिट जाता हैं या दृष्टातमें लालटेन ले लो। लालटेनकी दिया को ज्योतिका नाम दिया है। तो दियाके बुझ जाने पर क्या लालटेन खत्म हो जाती है? नहीं। वह तो बनी ही रहती है, क्योंकि ज्योति उस लालटेनमें नहीं है। वास्तवमें जो जिसमें नहीं होता है, उसका घात होने पर दूसरेका घात नहीं होता है। जैसे वह घरवूला कहीं थोड़ासा टूट जाए तो कहीं दीपक नहीं टूट जाता।

भिन्न वस्तुओंमें एकके घातसे दूसरेका घात असभव— भैया ! जो बात जहा नहीं है, उसके मिटने पर दूसरेका घात कैसे होगा ? जीवके कोई भी गुण परद्रव्यमें नहीं होता है, फिर किसी परद्रव्यके घात होने पर जीवके गुणोंका घात कैसे होगा या जीवके गुणोंका घात होने पर किसी परद्रव्यका घात कैसे होगा ? किसी बच्चेको फुसला लें यह बात अलग है। जैसे खम्भेसे बच्चेका सिर टकरा गया तो मा उस खम्भेको पीटती है और कहती है कि तूने हमारे राजा भैयाको मारा है, जिससे वह बच्चा चुप हो जाता है कि हमारी माने इसे खूब सजा दी है, दण्ड दिया है। इस प्रकार बच्चेको भले ही बहका दिया जाए, पर किसी परद्रव्यके घात करनेसे आत्माके विकारोंका घात नहीं हो जाता। जैसे बताते हैं कि सूरदासने अपनी आखोंमें सूई चुभो ली थी और अन्धे बन गये थे। क्या आखें जो परद्रव्य हैं, उनके घात कर देनेसे आत्माके विकारोंका भी घात हो जाता है ? विकारोंका घात आखें फोड़नेसे नहीं होगा, बल्कि ज्ञानबलसे होगा। रागद्वेषरहित परिणामसे विकारोंका विलय होगा।

परद्रव्यके घातसे कषायके घातका अभाव— कभी कोई लड़ाई हो गई पुरुष व स्त्रीमें या सास व बहूमें या देवरानी व जेठानी में। उनमें किसीके हाथमें घीका डब्बा हो और जब गुस्सा न सभला तो उस घ से भरे हुए डब्बेको पटक दिया। डब्बा फूट गया और घी वह गया। क्या उस घीके वह जानेसे अथवा डब्बेके फूट जानेसे क्रोध भी खतम हो जाएगा ? नहीं, अभी क्रोध नहीं जाएगा। अपनी सभालके लिए परद्रव्योंके समह-विग्रह पर दृष्टि न रखे, अपने मनमें जो रागभाव ठहर रहा है उसका घात करें।

सम्यग्दृष्टिके विषयराग न होनेका कारण— पुद्गलद्रव्यका और जीवद्रव्यका परस्परमें सम्बन्ध नहीं है, एक दूसरेका आपसमें अत्यन्ता-भाव है। जीवके कोई भी गुण शब्दादिक परविषयोंमें नहीं है, इस कारण सम्यग्दृष्टि जीवके विषयोंमें राग नहीं होता है। यदि जीवके गुण पुद्गलमे होते अथवा पुद्गलके गुण जीवमें होते तो जीवद्रव्यका घात होनेसे पुद्-गलके गुणका घात होता और पुद्गलद्रव्यका घात होनेसे जीवके गुणका घात होता, किन्तु ऐसा तो है ही नहीं। प्रत्येक द्रव्यका अपने आपके अपने आपका उत्पादव्यय होता है।

परमार्थदृष्टिमें रागका असद्भाव— जब ऐसी वस्तुस्थिति है कि अपने आपमें ही अपनी सब बात है तो फिर क्यों सम्यग्दृष्टि पुरुषका विषयोंमें राग होता है ? एक यह भी प्रश्न है कि क्यों होता है सम्यग्दृष्टि जीवके

विषयोंमें राग ? उत्तर देते हैं कि किसी भी कारणसे नहीं हो रहा है। लोग कहते हैं कि होता है सम्यग्दृष्टि पुरुषके राग । क्योंकि राग है कहां ? रागद्वेष तो मोही जीवोंके अज्ञानके परिणमन हैं, कल्पनावोंकी बातें हैं। वस्तुत वे रागद्वेष कहीं नहीं होते हैं। विषय तो परद्रव्य है। विषयोंसे तो राग होता नहीं है और सम्यग्दृष्टिके अज्ञानका अभाव है तथा रागको अज्ञानी ही सम्मानित करते हैं। रागका आधार न तो अब जीव रहा, क्योंकि अज्ञान मिट गया। विषय तो हैं ही नहीं, इसलिए विषयोंमें वे होते नहीं हैं। सम्यग्दृष्टि होते नहीं, इसलिए ये रागादिक होते नहीं हैं। यह किस प्रसगकी बात चल रही है ? जो जीव ज्ञानमात्रभावमें रुचि रखता है और ज्ञानमात्रभावमें ही लीन रहनेका उत्साह बनाए हुए हैं, लीन भी हुआ करता है--ऐसे ज्ञानी पुरुषके राग नहीं होता है और यदि होता है तो जैसे दिलफटे लोगोंकी दोस्ती। यों ही उसका अन्तरमें स्थान नहीं है। इस तरह राग असहाय, निराधार, जबरदस्तीके उदयकी प्रेरणाके कारण हो रहा है, उसे ज्ञानीजीव अपनाता नहीं है।

औपाधिक जालकी वास्तविकताका अभाव-- भैया ! ज्ञान ही शातरूपसे परिणमन करता है और ज्ञान ही अज्ञानके अभावसे रागद्वेषरूप उपस्थित होता है। वस्तुस्वरूपमें दृष्टि लगाकर देखो तो दिखने वाले ये रागद्वेष कुछ नहीं हैं। जैसे बड़े कोपरामें पानी रखा हो, रात्रिके समय चादनी छिटक रही हो। उस कोपरामें चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब बन रहा हो तो बच्चे उस प्रतिबिम्बको चन्दामामा ही कहते है। अब उसको देखकर बच्चे उसे पकड़ना चाहते हैं, उससे मिलना चाहते हैं। क्या वे मिल लेंगे, उसे पकड़ लेंगे ? नहीं। क्यों नहीं ? क्योंकि वस्तुस्वरूपमें दृष्टि लगाकर देखो तो वहा वह चीज नहीं है। जिसे बालक पकड़ना चाहता है, उस पानीमें तो चन्दा है नहीं और आसमानमें जो चन्दा है, उसमें भी यह चन्दामामा नहीं है। जो चन्दा कोपरामें दिख रहा है, वह कहीं नहीं है, केवल वह एक मायाप्रतिबिम्ब है अर्थात् औपाधिकपरिणमन है, किसी भी एक वस्तुमें नहीं पाया जाता है। केवल वस्तुस्वरूपको देखने वाले यह ही कहेंगे कि रागादिक है ही नहीं। जो निज शुद्ध आत्माकी भावनासे उत्पन्न हुए सुखमें तृप्त है--ऐसे सम्यग्दृष्टि जीवके विषयोंमें राग नहीं होता है।

ज्ञानसवेदनके अभावमें ही रागद्वेषका उदय-- राग, द्वेष, मोह परिणाम तो अज्ञानीजीवके अशुद्ध निश्चयसे अभिन्नपरिणाम हैं। वे विषयोंमें कहां जायेंगे ? इस कारण चाहे मनोज्ञविषय हो, चाहे अमनोज्ञविषय हो,

सर्व प्रकारके अचेतन विषयोंमें अज्ञानी जीव भ्रांतिसे भले ही रागादिकको आरोपित करे किन्तु शब्दादिकमें रागादिक नहीं होते हैं क्योंकि शब्दादिक अचेतन हैं, इस कारण यही सिद्ध हुआ कि राग और द्वेष ये दोनों तब तक प्रेरित होते हैं जब तक स्वसम्वेदन ज्ञान इस जीवके नहीं होता। ज्ञानी जीव अर्थात् जहा सम्यक्त्व उत्पन्न हो गया है ऐसा जीव भी जब अपने ज्ञान सम्वेदनके उपयोगसे च्युत है तब भी रागद्वेष होते हैं। पर श्रद्धा और प्रतीतिमें इस जीवके रागद्वेष नहीं है, ऐसी ज्ञानीको दृढ़ श्रद्धा होती है। तत्त्वदृष्टिसे देखकर हे भव्यपुरुषो! इन रागादिकोंका क्षय करो।

व्यर्थकी परेशानी— अहो व्यर्थ परेशान हैं यह जीवलोक इन रागादिक कल्पनाओंके कारण। रागादिक कल्पनाओंकी आफतमें कुछ प्रयत्न किया, उसके पश्चात् फिर यह रीताका रीता ही मिलता है। इसके साथ कोई शरण नहीं रहता है, कैसी विचित्र लीला है, कैसी तरंगे उठती हैं? इसको इन्द्रजाल बोलते हैं। इन्द्र अर्थात् आत्मा, उसका जाल है यह। अथवा जैसे इन्द्रजाल वास्तविक मायनेमें कुछ नहीं है, देखते हैं तो दिखता है, इतना तो सही है ना, पर है नहीं वहा ऐसा, इसलिए इन्द्रजाल कहलाता है। ये रागद्वेषादिक कल्पनाएँ इन्द्रजाल हैं। बिल्कुल व्यर्थका काम है, जिसमें जीवका कोई हित नहीं दिखता है। किन्तु जैसे स्वप्नमें देखी हुई बातको झूठ नहीं माना जा सकता, वह तो सच ही मानते हैं, इसही प्रकार इस अज्ञान कल्पनासे जानी हुई बातको यह झूठ नहीं मान सकता है। मेरा ही है यह सब प्रयोजन, मेरा ही है यह सब वैभव। मुझे इसमें ही सुख है। कैसा व्यर्थका अज्ञान छाया हुआ है। अज्ञानकी कुश्तीमें लड़भिड़ने के बाद अन्तमें पछतावा ही रह जाता है।

सुगम और स्वाधीन हितोपाय न कर सकनेका विषाद— हे ज्ञानमय आत्मावो! ज्ञान तो तुम्हारा स्वरूप ही है। इस ज्ञानस्वरूपकी ओर दृष्टि क्यों नहीं दी जा रही है? जैसे बूढ़े की एक खासीकी आवाजमें ही जब चोर भाग सकते हैं? और फिर भी बूढ़ा खासनेका भी साहस न करे और आखों देखे, चीजे लुट जाने दे तो इससे बडी विषादकी बात और क्या है? जब हमारा रक्षक प्रभु हमारे अत्यन्त निकट है, कुछ थोड़ा सरकना भी नहीं है ऐसे आत्मतत्त्वकी ओर ज्ञानस्वरूपकी ओर दृष्टि करने मात्रसे जब सारे संकट टल सकते हैं और फिर भी इतना सुगम स्वाधीन काम न किया जा सके और आखों देखे, अपनी समझमें भी है और फिर भी अपना ज्ञान और आनन्द धन लुटाए चले जा रहे हैं इन विषय चोरोंके हाथ तो इससे बढ़कर और विषादकी बात क्या होगी इस मनुष्यपर्यायमें?

अब गवांने लायक समय कहां— भैया ! अब इतना कहा समय है कि और देखलें थोडा कुछ, इन परिग्रह विषयोंमे कुछ मिल जाय थोडा बहुत, तो अब समय गँवानेके लायक समय कहा है ? प्रथम तो इस मनुष्य भवके ये ४०–६०–८० वर्ष इस अनन्त कालके समक्ष गिनती ही क्या रखते हैं और फिर लुट पिट कर आधा समय मान लो खो दिया है, बाकी बचे खुचे समयका भी सदुपयोग करनेका साहस नहीं जगता है। कालके प्रेरे चाहे यों जबरदस्ती यहासे हट जाये पर अपने आपकी ओरसे कुछ भी हटना नहीं चाहता। लडके समर्थ हो गए, पोते समर्थ हो गए और फिर भी चूँकि खुदके लड़के होना बद हो जाये तो लड़के पोतोंके तो होंगे। यह मोह बनाए हुए चले जा रहे हैं। रच भी निवृत्त नहीं होते।

अन्तरमें क्लेश है कहा— हे ज्ञानी पुरुषों ! तुम किसीके आधीन नहीं हो, केवल अज्ञान भावमें उठ रहे अपने आपके इन्द्रजालके आधीन हो। जो कि व्यर्थ हैं और अतमें जिसके प्रसंगमें रहता भी कुछ नहीं है, ऐसे इन्द्रजालके आधीन होकर अपने उस वैभवको जो परमात्माके समकक्ष ही लुटाये जा रहे हैं। अपने अन्तरमें प्रकाशमान् सहज ज्ञानज्योतिको तो देखो, जिसकी किरणे पूर्ण हैं, अचल हैं। यहां तो कुछ भी गरीबी नहीं है, पर गरीब मान रखा है पूरा। यहा तो कुछ भी क्लेश नहीं है, बडा साफ स्वच्छ मैदान पडा हुआ है। पर क्लेशका पहाड़ अपने पर मान रखा है। यहा तो रच भी मलिनता नहीं है। पर अपनी व्यक्तिमे ऐसा मलिन बन रहे हैं कि प्रत्यय भो नहीं करते कि मै सहज ज्ञानस्वरूप हू। ये रागद्वेष तब तक ही उदित हो रहे हैं अपने आपमें जब तक यह ज्ञानी आत्मा अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभवनेमें न लग सके।

विषयकी खोजमें उत्तम अवसरका दुरुपयोग— अहा, इतनी बात भीतरमें माननेमें कितना कष्ट हो रहा है कि मैं अमूर्त ज्ञानमात्र हू। जैसा है तैसा माननेमें भी संकट छा रहे हैं और जो अपना नहीं है, असार है, भिन्न है, अचेतन है, उन सबसे इतना अधिक मोह कर रहा है कि जिसके कारण लोकमे भी विषाद, विपत्तियां, अपमान और अनेक विडम्बनाएँ हो जाती हैं। जैसे कोई खुजैला, अधा गरीब तीनों ही रोग जिसमे हों, वह किसी नगरीमें प्रवेश करना चाहता है जिस नगरीके चारों ओर कोट लगा हुआ है, जिसमें मानो केवल एक ही दरवाजा है। तो कोटको हाथोंसे टटोलता जा रहा है, मिल जाये कहीं दरवाजा तो नगरीमे प्रवेश कर जाये। सो इतना तो परिश्रम किया, पर जब दरवाजा आया तब सिरकी खाज खुजलाने लगा और पैरोंसे चलना चालू किए रहा। यदि वहीं खड़े

ही खडे अपनी खाज खुजला लेता तो भी विडम्बना न होती तो खाज खुजलानेमें ही वह दरवाजा निकल जाता है, फिर उस कोटको टटोलकर चक्कर लगाता रहता है। होनी जिसकी खराब होती है उसके उसी जगह खाज उठती है जहां उसके छूटनेका मौका मिलता है।

विषय खाजका प्रसंग परीक्षाका अवसर— फोडेका कोई खूब इलाज करे तो कितना धीरे-धीरे उसे पोपते हैं। यदि जोरसे पोषें तो घबड़ाहट हो जाय। बडे प्रेमपूर्वक दवा कर रहे हैं और जब फूट गया, मानो ठीक होनेको हो गया तो फिर खुजलाने लगा। फिर उसे खुजलानेका मजा होती है। यदि खुजलाये नहीं तो ठीक हो जाता है परन्तु खुजला देता है यदि तो फिर फोड़ा तैयार हो जाता है। तो जैसे उस अंधे, खुजेले गरीब पुरुषने जहा ही दरवाजा मिलता है वहा ही सर खुजलाने लगता है इसी प्रकार इन ससारी गरीब अज्ञानके अधे विषयोंके खुजेले जीवोंने बहुत घूम-घूम करके इस मनुष्यभवका द्वार प्राप्त कर पाया है, किन्तु इसही द्वार के आगे वह विषयोंकी खाज तेजीसे खुजलाने लगा। तेजीसे विषय सेवने लगा, जितना कि पशु पक्षी भी नहीं कर पाते हैं, कितनी तरहके भोजन, किस-किस ढगसे बनावे ऐसा तो पशु पक्षी भी नहीं कर पाते हैं। इस मनुष्यको ज्ञान मिला है, बुद्धि मिली है, उस बुद्धिका उपयोग कलात्मक ढगसे विषयोंके सेवनमें किये जा रहा है। सो आज विषयोंके खुजैले विषयोंको खुजलाने लगते हैं और अपने पैरोंसे चलते जा रहे हैं अर्थात् जीवनका समय गुजरता जा रहा है। ये पैर न चलें तो भी भला है। विषयोंकी खाज खुजलाने जा रहे हैं और पैर भी चलते जा रहे हैं, इतने में आजायेगी वृद्धावस्था, मरणकाल। लो फिर उस कोटको टटोलते-टटोलते फिर रहे हैं, अनेक कुयोनियोंमें भ्रमण कर रहे हैं। ऐसे सुन्दर अवसरसे कुछ लाभ नहीं उठा पाते हैं।

अज्ञानीका व्यवहार — भैया! यही हाल होता है पढाये, सिखाये गए ताते [illegible] तोते को खू[illegible] सिखाया पिजड़ासे मत भगना, भगना तो दूर न उड़ ज[illegible], उड जाना त[illegible] नलनी पर न बैठना, बैठ जाना तो दाने न चुगन[illegible] द[illegible] [illegible]गना तो लट[illegible] न जाना, लटक जाना तो छोड़कर भग ज[illegible] [illegible] [illegible]तें खूब रटत[illegible], पर जहा मौका देखा कि हमारा मालिक पिजडे[illegible] [illegible]रवाजा बद करना भूल गया है, सो ही पिजडेसे उड़कर दूर भग गया, नलनी पर जाकर बैठ गया, दाने चुगने लगा, पाठ वही रटता जा रहा [illegible], जैसे अपन लोगोंको खूब पाठ याद है विनतियां भी खूब याद हैं वै[illegible] [illegible]ोते ने भी खूब अपना पाठ याद कर लिया है। वह उस

नलनी पर लटक भी गया, पाठ नहीं पढता जा रहा है— अभी पिजड़ेसे बाहर भगना नहीं, भगना तो दूर न भग जाना, दूर भी भग जाना तो नलनी पर जाकर न बैठना, नलनी पर बैठ भी जाना तो दाने चुगने की कोशिश न करना, दाने चुगना तो उसमें लटक न जाना, लटक जाना तो उसे छोड़कर भग जाना। ऐसा पाठ भी वह पढता रहता है। उस तोते जैसा ही पाठ हम आप सबने भी याद कर रखा है।

आत्माका शुद्धकार्य ज्ञानकी वर्तना— पढते जायें मोह राग द्वेष करना संसारमें रुलनेका उपाय है। और बच्चेको घना घना छातीसे लगाते जाते हैं तो शायद यह तो उपदेश करनेकी विधि होगी। मोह न करो क्योंकि यह मनुष्यजीवन पाना बड़ा दुर्लभ है, ऐसा पाठ पढ़ते जाये और पासमें खडे हुए पुजारीसे लडते भी जाये। तो यह तो शायद पूजा करने की विधि होगी ? अहो अज्ञानमें इतना सर्व प्रवर्तन चल रहा है और अन्तरमें देखो तो सही तो तू मात्र ज्ञानस्वरूप है और तेरा शुद्ध काम एक ज्ञानकी वर्तना है, उसको अपने लक्ष्यमें न लेकर इन असार भिन्न, अशरण पदार्थोंको अपना रहा है और दुःखी हो रहा है। तत्त्वदृष्टिसे देखो तो इसमें न रागादिक विराज रहे हैं, न विषय विराज रहे हैं। यह ज्ञानीकी दृष्टिकी बात कही जा रही है। जो स्वसम्वेदन ज्ञानका रुचिया है, जो शुद्ध स्वच्छ ज्ञानके दर्शन जब चाहे कर रहा है।

वस्तुस्वातन्त्र्यदर्शनसे स्वात्मदृष्टिके विधानकी शिक्षा— ऐसी इस ज्ञानज्योतिको प्रकट करो और ससारके समस्त सकटोंसे मुक्त होनेका उपाय बनाओ अन्यथा इस भवमें भी केवल दुःखी ही रहकर कष्टसे मरण कर आकुलतावोंके साथ परलोक जाना होगा और फिर आगेका तो हवाल ही क्या है ? जब सभाली हुई अवस्था है तब न चेते तो आगे कहा सभाल ने का मौका मिलेगा, इसका तो कोई ठिकाना ही नहीं है। सो देखो— इस तरह आत्माके गुण आत्मामें हैं और उस ही प्रकारसे इसका परिणमन चलता है। पुद्गलके गुण पुद्गलरूप हैं, उनका वहा परिणमन चलता है। ऐसा वस्तुस्वातन्त्र्य निरखकर अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि करो जिस के प्रतापसे ये समस्त ससारके संकट टल जायें।

❀ समयसार प्रवचन चतुर्दशतम भाग समाप्त ❀